आध्यात्मिक काम-विज्ञान

श्रीराम शर्मा आचार्य

आध्यात्मिक काम-विज्ञान

❋

लेखक :

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

❋

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०११ मूल्य : २२.०० रुपये

विषय-सूची

"नर और नारी के बीच पाए जाने वाले प्राण और रयि—अग्नि और सोम, स्वाहा और स्वधा तत्त्वों का महत्त्व, सामान्य नहीं असामान्य है। सृजन और उद्भव की—उत्कर्ष और आह्लाद की असीम संभावनाएँ उसमें भरी पड़ी हैं, प्रजा उत्पादन तो उस मिलन का बहुत ही सूक्ष्म या स्थूल और अति तुच्छ परिणाम है। इस सृष्टि के मूल कारण और चेतना के आदि स्रोत, इन द्विधा संस्करण और संचरण का ठीक तरह मूल्यांकन किया जाना चाहिए और इस तथ्य पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि, इनका सदुपयोग किस प्रकार विश्वकल्याण की सर्वतोमुखी प्रगति में सहायक हो सकता है और उनका दुरुपयोग मानवजाति के शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य को किस प्रकार क्षीण-विकृत करके, विनाश के गर्त में धकेलने के लिए दुर्दांत दैत्य की तरह सर्वग्रासी संकट उत्पन्न कर सकता है, कर रहा है।"

मुद्रक :

युग निर्माण योजना प्रेस,

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

आध्यात्मिक काम-विज्ञान

●

सृष्टि का संचरण किस क्रिया से होता है, इस संबंध में पदार्थ विज्ञान, अणु को प्रथम इकाई मानता है। वैज्ञानिकों का कहना है कि अणु के अंतर्गत नाभिक तथा दूसरे घटक अपना क्रियाकलाप जिस निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार संचालित करते हैं, उसी में विविध हलचलें उत्पन्न होती हैं और वस्तुओं के उद्‍भव से लेकर शक्ति उत्सर्जन की क्रिया, विभिन्न रूपों में चल पड़ती है। यह ५० वर्ष पुरानी मान्यता है। अब विज्ञान की आधुनिकतम शोधों ने बताया है कि अणु आरंभ नहीं परिणति है। सृष्टि का मूल एक चेतना है, जिसे पदार्थ और विचार की द्विधा से सुसंपन्न कहा जा सकता है। इसी चेतना को प्रकृति कहते हैं। प्रकति के स्फुल्लिंग ही परमाणु माने जाते हैं और कहा जाता है कि उन्हीं की गतिविधियों पर सृष्टि का उद्‍भव, विकास और विनाश अवलंबित है।

अध्यात्मविज्ञान इसकी बहुत अधिक गहराई तक जाता है और वह सृष्टि का आरंभ प्रकृति और पुरुष के सम्मिश्रण से मानता है। वैज्ञानिक शब्दों में प्रकृति को रयि और पुरुष को प्राण भी कहा जाता है। इसी को शक्ति और शिव कहते हैं। वेदों में इसे सोम और अग्नि कहा गया है और अधिक स्पष्ट समझना हो, तो इन्हें ऋण (नेगेटिव) और धन (पॉजेटिव) विद्युत् धाराएँ कह सकते हैं। विद्युत् विज्ञान के ज्ञाता जानते हैं कि प्रवाह (करेंट) के अंतराल में उपर्युक्त दोनों धाराओं का मिलन-बिछुड़न होता रहता है। यह मिलन-बिछुड़न की क्रिया न हो, तो बिजली का उद्‍भव ही संभव न हो सकेगा।

प्रकृति और पुरुष के बारे में सांख्यकार की उक्ति है कि, वे निरंतर मिलन-बिछुड़न के संघर्ष-अपकर्ष की प्रक्रिया संचरित करते हैं। फलस्वरूप परा और अपरा प्रकृति के नाम से पुकारा जाने वाला वह सृष्टि वैभव आरंभ हो जाता है, जिसका प्रथम परिचय हम अणु

क्रिया द्वारा प्राप्त करते हैं। क्लॉक घड़ियों में पेंडुलम लगा रहता है और गतिचक्र के नियमानुसार एक बार हिला देने पर, वह स्वयमेव हिलते रहने की क्रिया करने लगता है और घड़ी की मशीन चलने लगती है। प्रकृति और पुरुष निरंतर उसी प्रकार का मिलन-बिछुड़न क्रम संचरित करते हैं और सृष्टि का क्रियाकलाप दीवार घड़ी की पेंडुलम क्रिया की तरह चल पड़ता है।

इस सूक्ष्म तत्त्व का ज्ञान—एक अंतर विज्ञान को और भी अधिक स्पष्ट समझना हो, तो उसे नर-नारी का रूपक दिया जा सकता है। ब्रह्म को नर और प्रकृति को नारी का प्रतीक प्रतिनिधि माना जा सकता है। सृष्टि का उद्भव, विकास और विगठन करने वाली शक्ति त्रिवेणी को ब्रह्मा, विष्णु, महेश के नाम से पुकारते हैं। यों तत्त्व एक ही है, पर उसके क्रियाकलाप की भिन्नता को अधिक स्पष्टता के साथ समझने-समझाने के लिए देवताओं का नाम दिया गया है। वे तीनों ही सपत्नीक हैं। ब्रह्मा की पत्नी का नाम सावित्री, विष्णु की लक्ष्मी और शिव की उमा प्रख्यात हैं। इस अलंकार के पीछे इसी तथ्य का प्रतिपादन है कि सृष्टि का उद्भव अकेले ब्रह्म से नहीं, वरन् प्रकृति के संयोग से होता है। नर और नारी दोनों मिलकर ही एक व्यवस्थित शक्ति का रूप धारण करते हैं। जब तक यह मिलन न हो, गति एवं चेतना उत्पन्न ही न होगी और सब कुछ शून्य-निष्प्राण की तरह पड़ा रहेगा। नृतत्व विज्ञान की दृष्टि से पति-पत्नी का मिलना सृष्टि का स्थूल कारण है। संयोग या संभोग से प्रजा उत्पन्न होती है। प्रजनन प्रक्रिया में मिलन-बिछुड़न क्रम की एक रगड़-संघर्ष जैसी हलचल चलती है। इससे सृष्टि के अति सूक्ष्म क्रियाकलाप का अनुमान लगाया जा सकता है। शरीर का जीवन इसी क्रियाकलाप पर जीवित है। मांस-पेशियाँ सिकुड़ती-फैलती हैं और जीवन शुरू हो जाता है। साँस का संचरण, दिल की धड़कन, नाड़ियों का रक्त संचार, कोशिकाओं का क्रियाकलाप इस मिलन-बिछुड़न की—आकुंचन-प्रकुंचन की प्रक्रिया पर निर्भर है। जिस क्षण यह क्रम टूटा, उसी क्षण मृत्यु की विभीषिका सामने आ

खड़ी होती है। यह तथ्य मात्र देह के जीवन का नहीं, संपूर्ण सृष्टि का है। समुद्र में उठने वाले ज्वार-भाटे की तरह यहाँ सब कुछ उस संयोग-वियोग पर हो रहा है, जिसे अध्यात्म की भाषा में प्रकृति और पुरुष अथवा रयि और प्राण कहते हैं।

मानवजीवन इसी सर्वव्यापी क्रियाकलाप पर निर्भर है। नर और नारी मिलकर स्थूल जीवन को पुरुष और प्रकृति के संयोग से चलने वाले सूक्ष्म जीवन क्रम की तरह विनिर्मित करते हैं। इसलिए सामाजिक जीवन में नर-नारी का मिलन, एक अनिवार्य आवश्यकता बन गया है। अपवाद की बात अलग है। विवशता और अति उच्च-स्तरीय आदर्शवादिता नर-नारी के मिलन को वर्जित भी रख सकती है, पर वह मात्र अपवाद है। उनमें स्वाभाविकता नहीं है और न ही सरल विकास क्रम की क्रमव्यवस्था का ही समावेश है। स्वाभाविक जीवन नर-नारी के सुयोग-संयोग से विकसित होता है। इस तथ्य को स्वीकार करने में किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

यह संयोग मात्र प्रजनन के लिए नहीं है और न इंद्रियतृप्ति के लिए। वंशवृद्धि और आह्लाद की आवश्यकता इन क्रियाओं को अपनाने के लिए भी, यह प्रेरित कर सकती है, पर नर-नारी के मिलन के आधार पर बनने वाला संयोग मूलतः दोनों की प्रसुप्त चेतनाओं को जगाने के लिए है। जन्म से लेकर मरणपर्यंत यह आवश्यकता समान रूप से बनी रहती है। बचपन में माता का स्तन पीना, गोदी में खेलना, लाड़-दुलार एक आवश्यकता है। मातृविहीन लड़के और पितृविहीन लड़कियाँ मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बहुत हद तक अविकसित रह जाते हैं। बहन-भाइयों का साथ खेलना, परिवार की शोभा है। जिन घरों में केवल लड़के ही लड़के हैं या लड़कियाँ ही लड़कियाँ हैं, उनमें सर्वतोमुखी प्रतिभा का विकास बहुत कुछ रुका रहता है और मानसिक अपूर्णता को वहाँ सहज ही देखा जा सकता है। यौवन के आँगन में प्रवेश करते ही, दांपत्य-जीवन की व्यवस्था जुटानी पड़ती है। ढलती आयु में यह जरूरत पुत्र-पुत्रियों

को गोदी में खिलाते हुए पूरी होती है। इस प्रकार प्रकारांतर से नर-नारी आपस में प्रायः गुँथे ही रहते हैं और अपनी-अपनी विशेषताओं के कारण एक-दूसरे की प्रतिभा की—प्रसुप्त शक्तियों को जगाने की महत्त्वपूर्ण भूमिका स्थापित करते रहते हैं।

मनोविज्ञान शास्त्री डॉ० फ्रायड ने मानवजीवन के विकास की सबसे महती आवश्यकता "काम" मानी है। जिसे वह नर और नारी के मिलन से विकसित होने वाली मानता है। चूँकि अपने देश में "काम" शब्द प्रजननक्रिया एवं संयोग के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है, इसलिए वह अश्लील जैसा बन गया है और उसे हेय दृष्टि से देखा जाता है। इसलिए फ्रायड की उपर्युक्त मान्यता अपने गले नहीं उतरती और न रुचती है, पर यदि उसे वैज्ञानिक परिभाषा के आधार पर सोच और शब्दों के प्रचलित अर्थों को कुछ समय के लिए उठाकर एक ओर रख दें, तो इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि, सृष्टि के मूल कारण प्रकृति-पुरुष के मिलन से लेकर दांपत्य जीवन बसाने तक चली आ रही काम प्रक्रिया विश्व की एक ऐसी आवश्यकता है, जिसे अस्वीकार करने में केवल आत्मवंचना ही हो सकती है।

दुरुपयोग हर वस्तु का निषेध है। अति को सर्वत्र वर्जित किया गया है। अविवेकी मनुष्य ने हर इंद्रिय का दुरुपयोग करने में, कोई कसर नहीं रखी है। जिह्वा को ही लें, तो कटु और असत्य भाषण से लेकर अभक्ष्य भोजन तक की दुष्प्रवृत्ति अपनाकर अपना शारीरिक, मानसिक, नैतिक, आर्थिक सब प्रकार अहित ही किया गया है। यह दोष जिह्वा की स्वाद एवं संभाषण क्षमता का नहीं। इनका सदुपयोग किया जाए, तो जिह्वा हमारे जीवन में विकासक्रम की महती भूमिका संपादित कर सकती है। इसी प्रकार जननेंद्रिय को सीमित और सोद्देश्य प्रयोग के लिए प्रतिबंधित कर दिया जाए, संयम और ब्रह्मचर्य के महत्त्व को समझते हुए, मर्यादाओं के अंतर्गत रहते हुए, तत्संबंधित कामोल्लास का लाभ लिया जाए, तो उससे हानि नहीं, लाभ ही होगा। हानि तो दुरुपयोग से है। सो दुरुपयोग

अमृत का करके भी, हानि उठाई जा सकती है और सदुपयोग विष का भी किया जाए, तो उससे भी आश्चर्यजनक लाभ उठाया जा सकता है। हेय कामप्रवृत्ति नहीं, भर्त्सना उसके दुरुपयोग की, की जानी चाहिए।

नर-नारी का मिलना जितना ही प्रतिबंधित किया जाएगा उतनी ही विकृतियाँ उत्पन्न होगी। सच तो यह है कि अनावश्यक प्रतिबंधों ने ही, हेय कामप्रवृत्ति को भड़काया है। बच्चा माँ का दूध पीता है, उसके स्तन स्पर्श से कुछ भी अश्लीलता प्रतीत नहीं होती है और न लज्जा जैसी कोई बुराई दीखती है। आदिवासी क्षेत्रों में, पिछड़े कबीलों में, स्त्रियाँ प्रायः छाती नहीं ढकतीं। वहाँ किसी को इसमें अश्लीलता और विकार भड़काने वाली कोई बात ही प्रतीत नहीं होती। यह मानसिक कुत्साएँ और मूढ़ मान्यतायें ही हैं, जिन्होंने नारी के स्तन जैसे परम पवित्र और अभिवंदनीय अंग को, विकारों का प्रतीक बनाकर रख दिया। काम का विकृत स्वरूप जिसने मनुष्य की एक प्रकृतिप्रदत्त दिव्य सामर्थ्य को कुत्सित बनाकर रख दिया, वस्तुतः हमारी बौद्धिक भ्रष्टता ही है। पशु-पक्षी नग्न रहते हैं। उनकी जननेंद्रियाँ बिना ढकी रहती हैं। सभी साथ-साथ खाते-सोते हैं, पर बिना अवसर की माँग हुए दोनों पक्षों में से कोई किसी की ओर ध्यान तक नहीं देता, आकर्षित होना तो दूर। मनुष्यकृत गर्हित कामशास्त्र को यदि जला दिया जाए और प्रकृति की स्वाभाविक प्रेरणा और जीवन विकास के पुण्यप्रयोजन के लिए उस संजीवनी शक्ति का सदुपयोग किया जाए, तो कामक्रीड़ा गर्हित न रहकर जीवनोत्कर्ष की एक महत्ती आवश्यकतापूर्ण कर सकने में समर्थ बनाई जा सकती है।

बेटी, भगिनी और माता का–पिता, भाई और पुत्र के साथ विनोद और उल्लास भरा संपर्क अहितकर नहीं, हितकारक ही हो सकता है, उसी प्रकार नर-नारी के बीच खड़ी कर दी गई एक अवांछनीय विभेद की दीवार यदि गिरा दी जाए, तो इससे, अहित क्यों होगा ? दांपत्य-जीवन की बात ही लें, उसमें से कुत्साएँ हटा

दी जाएँ और परस्पर सहयोग एवं उल्लास का अभिवर्धन वाले अंश को प्रखर बना दिया जाए, तो विवाह उभयपक्ष की अपूर्णता दूर करके एक अभिनवपूर्णता का ही सृजन करेगा। इस दिशा में भगवान् कृष्ण ने, एक क्रांतिकारी शुभारंभ किया था। उन दिनों अबोध बालकों और बालिकाओं का सहचरत्व भी प्रतिबंधित था। लोगों ने एक काल्पनिक विभीषिका गढ़कर खड़ी कर दी थी कि नर-नारी चाहें वे किसी भी आयु के, किसी भी मनःस्थिति के क्यों न हों, मिलेंगे तो केवल अनर्थ ही होगा। इस मान्यता ने जन-साधारण की मनोभूमि तमाच्छन्न कर रखी थी और छोटे बच्चे भी परस्पर इसलिए हँस-बोल नहीं सकते थे, खेलकूद नहीं कर सकते थे, क्योंकि वे लड़के और लड़की के भेद से प्रतिबंधित थे। कृष्ण भगवान् ने इस कुंठा को अवांछनीय बताया और उन्होंने लड़के-लड़कियों को साथ हँसने, खेलने के लिए आमंत्रित करते हुए, रासलीला जैसे विनोद आयोजन खड़े कर दिए। उन्हें लगा कि मनुष्य-मनुष्य के बीच इसलिए दीवार खड़ी कर दी जाए कि एक वर्ग को नारी कहा जाता है और उसके मूछें नहीं आतीं। दूसरे वर्ग को इसलिए अस्पर्श्य घोषित किया जाए कि वह पुरुष है और उसकी मूछें आती हैं। प्रजनन अवयवों की बनावट में प्रकृतिप्रदत्त अंतर सृष्टि की शोभा-विशेषता है। इतने नन्हें-से कारण को लेकर, मनुष्यजाति के दो परस्पर पूरक पक्षों को यह मान अलग कर दिया जाए कि वे जब मिलेंगे तब केवल अनर्थ ही सोचेंगे, अनर्थ ही करेंगे, यह मनुष्य की मनुष्य के प्रति अविश्वसनीयता की अति है। प्रतिबंधित करके किसी को भी सदाचरण के लिए, विवश नहीं किया जा सकता। जेल में कैदी हथकड़ी, बेड़ी पहने हुए भी, बड़े-बड़े अनर्थ करते हैं। घूँघट और परदे के कठोर प्रतिबंध रहते हुए भी दुनिया में न जाने क्या-क्या हो रहा है ? सगे भाई-बहन, पिता-पुत्री जैसे बाह्याचार के भीतर ही भीतर न जाने क्या-क्या बनता-बिगड़ता है। उन कुत्सित कथा-गाथाओं को कहने-सुनने में कुछ लाभ नहीं। बात सोचने की यह है कि यदि मनुष्य की

सज्जनता-ईमानदारी और प्रामाणिकता को विकसित न किया गया हो, तो कड़े से कड़े प्रतिबंध आदमी की बुद्धि-चातुरी को चुनौती नहीं दे सकते। वह हर कानून और हर प्रतिबंध के रहते हुए भी, चाहे जो कर गुजर सकता है। मानवीय चरित्र-निष्ठा उनकी श्रद्धा, विवेकशीलता और दूरदर्शिता तथा आदर्शवादिता को विकसित करके ही परिपक्व करनी होगी। अन्यथा प्रतिबंध कड़े करते जाने में परस्पर सहयोग से उपलब्ध हो सकने वाले अगणित भौतिक लाभों और असीम आत्मिक उत्कर्षों से वंचित रहकर, अपार हानि का ही सामना करना पड़ेगा और हम निरंतर पिछड़ते ही चले जाएँगे। भगवान् कृष्ण के हास-परिहास आंदोलन के पीछे, यही क्रांतिकारी भावना काम कर रही थी।

आध्यात्मिक कामशास्त्र की जानकारी, हमें सर्व साधारण तक पहुँचानी ही चाहिए। भले ही उस प्रशिक्षण को, अवांछनीय या अश्लील कहा जाए। सृष्टि के इतने महत्त्वपूर्ण विषय को जिसकी जानकारी प्रकृति जीव-जंतुओं तक को करा देती है। उसे गोपनीय नहीं रखा जाना चाहिए। खासतौर से तब, जबकि इस महत्त्वपूर्ण विज्ञान का स्वरूप लगभग पूरी तरह से विकृत और उलटा हो गया हो। जो मान्यताएँ चल रही हैं, वे ही चलने दी जाएँ। सुलझे हुए समाधान और सुरुचिपूर्ण प्राविधान यदि प्रस्तुत न किए गए, तो विकृतियाँ ही बढ़ती, पनपती चली जाएँगी और उससे मानवजाति एक महती शक्ति का दुरुपयोग करके, अपना सर्वनाश ही करती रहेगी।

आध्यात्मिक कामविज्ञान नर-नारी के निर्मल सामीप्य का समर्थन करता है। दांपत्यजीवन में उसे इंद्रियतृप्ति और काम-क्रीड़ा द्वारा उत्पन्न होने वाले हर्षोल्लास की परिधि तक बढ़ाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त वह सौम्य सामीप्य अप्रतिबंधित रहना चाहिए। जिस प्रकार दो नर या दो नारी चाहे वे किसी वय के हों, निर्बाध रूप से हँस-बोल सकते हैं और स्नेह सामीप्य बढ़ा सकते हैं, और उससे कुछ भी अनुचित आशंका नहीं की जाती, इसी प्रकार

नर-नारी का परस्पर व्यवहार भी निर्मल और निष्कलंक रखा जा सकना अति सरल है। इस सौम्य सरलता को प्रतिबंधित नहीं किया जाना चाहिए। प्रतिबंधपरक प्रयोग पिछले बहुत दिनों से चले आ रहे है और उनके निष्कर्षों ने उस मान्यता की निरर्थकता ही सिद्ध की है। परदे की प्रथा चलाकर हमने क्या पाया ? केवल इतना भर हुआ कि नवागंतुक वधुएँ अपनी ससुराल का जो अविच्छिन्न स्नेह पा सकती थीं, अनुभवी गुरुजनों का परामर्श प्राप्त कर सकती थीं, अपनी कठिनाइयों की चर्चा करके समाधान पा सकती थीं, उससे वंचित रह गईं। उन्हें ससुराल का वातावरण पितृगृह से उतना भिन्न और विपरीत लगा, जितना स्वच्छंद विचरण करने वाले पक्षी की आँखें बंद करके चारों ओर से परदा लगाकर रखे गए पिंजड़ों में बंद किए जाने की स्थिति में हो सकता है। कई भावुक लड़कियाँ तो इस जमीन-आसमान जैसे परिवर्तन से बुरी तरह घबरा जाती हैं और उन्हें हिस्टीरिया सरीखे भय, भूत-प्रेत, घबराहट जैसी अनेक मानसिक बीमारियाँ उठ खड़ी होती हैं। ऐसी स्थिति में हीनता की भावना बढ़ना, नितांत स्वाभाविक है। सब लोग हँसी-खुशी से घर-बाहर घूमें और हँसें-बोलें, पर उस वयस्क नारी की, जिसकी भावुकता नए वातावरण में बहुत ही उभरती हैं और नई परिस्थितियों में ढलने-बदलने के लिए उस परिवार के भारी मानसिक सहयोग की आवश्यकता पड़ती है—यदि मुँह ढककर एक कोने में बैठे हुए प्रतिबंधित कैदी की स्थिति में पटक दिया जाए, तो निस्संदेह उसका मानसिक प्रभाव घुटन, कुंठा, अरुचि, विवशता, ज्यादती के रूप में ही होगा। या तो विद्रोह भड़केगा या अंतःकरण अपना अहं खोकर सर्वथा दीनहीन, पराधीन हो जाएगा। दोनों ही मनःस्थितियाँ अवांछनीय हैं। इससे नारी की भाव संपदाओं का, सृजनात्मक विभूतियों का नाश हो सकता है। हुआ भी है। परदा प्रथा ने नव वधुओं के साथ सचमुच बहुत अनीति बरती और ज्यादती की है और उसका परिणाम समस्त समाज को भोगना पड़ा है।

यह अस्वाभाविक प्रक्रिया, एक कदम भी जीवित न रह सकी। परदे का उद्‍देश्य रत्ती भर भी सफल न हुआ। उसका उद्‍देश्य नर और नारी के बीच पारस्परिक आकर्षण को रोकना था। वह कहाँ पूरा हुआ ? नव वधू केवल ससुराल में सास-ससुर, जेठ आदि गुरुजनों से परदा करती है। जो वस्तुतः उसे बेटी जैसी ही समझ सकते हैं। जिनसे खतरा है, उनके तईं तो परदा फिर भी खुला रह सकता है। यदि व्यभिचार की रोक-थाम की समस्या है, तो उसकी सबसे अधिक गुंजायश पितृगृह के स्वच्छंद वातावरण में रहती है। ससुराल में भी बाहर के लोगों से हाट-बाजार में, मेले-ठेले में, किसी से भी मुँह खोलकर बातें की जा सकती हैं। ससुराल में भी यदि उस आकर्षण की गुंजायश है, तो देवर से है, जो पति की अपेक्षा अधिक मृदुल लग सकता है। उससे परदा नहीं, बुजुर्गों से परदा—इस मूर्खता को किसी भी तथ्य के आधार पर समर्थित नहीं किया जा सकता, जो आजकल चल रही है।

परदे की प्रथा उन विदेशी शासकों की देन है, जो दूसरों की बहन-बेटियों को केवल पाप, अनाचार की दृष्टि से देखते और उनका अपहरण करने में नहीं चूकते थे। उन दिनों परदे का कुछ सामयिक उपयोग हो भी सकता था। अरब के रेगिस्तानों में जहाँ रेतीली आँधियाँ चलती रहती थीं। आँख, नाक, कान, मुँह आदि को कूड़े-कचरे से बचाने के लिए परदे का प्रचलन कुछ समझ में भी आता है, पर भारत की वर्तमान परिस्थिति में कहीं घूँघट-परदे की गुंजायश है, इसका कोई कारण समझ में नहीं आता। यौवन कोई अभिशाप नहीं—नारी का शरीर मिलना कोई पाप नहीं है। इस ईश्वरीय अनुदान को निष्ठुरतापूर्वक प्रतिबंधित किया जाएगा, तो उसकी प्रतिक्रिया अवांछनीय और अनुपयुक्त ही होगी। परदे ने नारी का मनोबल गिराया और उसकी अगणित क्षमताओं को कुचलकर फेंक दिया। उससे इसकी उपयोगिता में कमी आई और स्थिति यहाँ तक जा पहुँची कि, लड़कियों का विवाह करना हो, तो लड़के वाले रिश्वत के रूप में दहेज, नकदी, जेवर और गुलामी

जैसी दीनता माँगते हैं। यह स्थिति तभी बनी, जब नारी का मूल्य बेहिसाब गिर गया। यदि उसका उचित मूल्य स्थिर रखा गया होता, तो बिना कीमत अपना शरीर, मन और सहयोग देने के लिए महान् आत्मिक अनुदान देने वाली वधू के ससुराल वाले, उसके चरण धो-धोकर पीते। पशु भी कीमत देकर खरीदा जाता है। अनेक गुणों से विभूषित वधू घर में आए, तो उसे लेने के लिए उपेक्षा दिखाई जाए और रिश्वत माँगी जाए, इस दयनीय स्थिति के पीछे नारी का वह अवमूल्यन झाँक रहा है, जो परदे जैसे प्रतिबंधों ने अवांछनीय और अनुचित रूप में प्रस्तुत कर दिया।

अध्यात्म तत्त्वज्ञान की मान्यताएँ नर-नारी के बीच की, उन अवांछनीय दीवारों को तोड़ना चाहती हैं, जो मनुष्य को मनुष्य से पृथक् करती हैं और एक-दूसरे का सहयोग करने में अस्वाभाविक, अप्राकृतिक प्रतिबंध उत्पन्न करती हैं। यौन विकृतियों और व्यभिचार के खतरों को रोकने के दूसरे तरीके हैं। एक दूसरे से सर्वथा पृथक् रखने वाली प्रक्रिया, इस प्रयोजन को पूरा नहीं करती। आधी जनसंख्या को इन प्रतिबंधों के नाम पर, अपंग बनाकर हम अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मार रहे हैं। सारी समस्या का एकमात्र कारण, वह बौद्धिक भ्रष्टाचार है, जिसने नारी को कामिनी और रमणी का अतिरंजित चित्रण करके, उसे एक भयावह चुड़ैल के रूप में प्रस्तुत कर दिया। तथाकथित कलाकारों-चित्रकारों, मूर्तिकारों, कवियों, गायकों, साहित्यकारों, अभिनेताओं ने नारी का कुत्सित अंश ही उभारा—उसे यौन आकर्षण का प्रतीक मात्र बनाया और उस भ्रांति को अधिकाधिक सघन करने में, अपनी सारी कलाकारिता का अंत कर दिया।

नर और नारी के बीच पाए जाने वाले प्राण और रयि, अग्नि और सोम, स्वाहा और स्वधा तत्त्वों का महत्त्व सामान्य नहीं असामान्य है। सृजन और उद्भव की, उत्कर्ष और आह्लाद की असीम संभावनाएँ उसमें भरी पड़ी हैं, प्रजा उत्पादन तो उस मिलन का बहुत ही सूक्ष्म-सा, स्थूल और अति तुच्छ परिणाम है। इस

सृष्टि के मूल कारण और चेतना के आदि स्रोत इन द्विधा संस्करण और संचरण का ठीक तरह मूल्यांकन किया जाना चाहिए और इस तथ्य पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि, इनका सदुपयोग किस प्रकार विश्व कल्याण की सर्वतोमुखी प्रगति में सहायक हो सकता है? और उनका दुरुपयोग मानवजाति के शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य को किस प्रकार क्षीण विकृत करके विनाश के गर्त्त में धकेलने के लिए दुर्दांत दैत्य की तरह, सर्वग्रासी संकट उत्पन्न कर सकता है।

अश्लील, अवांछनीय और गोपनीय संयोग कर्म हो सकता है। विकारोत्तेजक शैली में उसका वर्णन अहितकर हो सकता है। पर सृष्टि संस्करण के आदि उद्गम प्रकृति-पुरुष के संयोग से किस प्रकार यह द्विधा काम कर रही है, यह जानना न तो अनुचित है और न अनावश्यक। सच तो यह है कि इस पंचाग्नि विद्या की अवहेलना-अवमानना से हमने अपना ही अहित किया है। नर-नारी के बीच प्रकृतिप्रदत्त विद्युत्धारा किस सीमा तक, किस दिशा में कितनी और कैसे श्रेयस्कर प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है और उनकी विकृति विनाश का निमित्त कैसे बनती है? इस जानकारी को आध्यात्मिक काम विज्ञान कह सकते हैं। इसे मात्र शारीरिक सुख को अधिकाधिक बनाने का प्रयोजन नहीं करना चाहिए।

❑ ❑

सृष्टि में संचरण और उल्लास की प्रवृत्ति

●

ब्रह्मा की दो पत्नियाँ होने की चर्चा, पुराणों में आती है। एक का नाम सावित्री, दूसरी का गायत्री है। एक को परा प्रकृति, दूसरी को अपरा प्रकृति कहते हैं। दूसरे शब्दों में इन्हें जड़ और चेतन सृष्टि कह सकते हैं। जड़शक्ति वह है, जो अणुशक्ति के पीछे काम करने वाली प्रेरकसत्ता से आरंभ होती है। नाभिक न्यूक्लियस के अंतराल में भरी हुई अगणित और अद्भुत गतिविधियों और दिशा-विदिशाओं के रूप में जिसका परिचय प्राप्त किया जाता है; भौतिक जगत् इसी का विस्तार है। इंद्रियों से जिनका स्वरूप देखा-समझा जाता है एवं इंद्रियातीत वे शक्तियाँ जिनको उपकरणों से पकड़ा जा सकता है, वे सभी दृश्य-अदृश्य शक्तियाँ यों हलचल से शून्य नहीं हैं, पर उनमें चिंतन क्षमता न होने से उन्हें जड़ कहते हैं। जड़ प्रकृति का अर्थ गतिहीन नहीं। शक्ति में गति न हो, तो फिर वह शक्ति कैसी ? बोलचाल की भाषा में उसे जड़, दार्शनिक चर्चा में उसे परा, पौराणिक अलंकारों में उसे सावित्री कहते हैं। जितना कुछ यह जगत् देखा-समझा जा सकता है, उसे सावित्री कहना चाहिए। जो कुछ विचार की, भावना की, उत्साह की शक्ति है, उसे गायत्री कहते हैं। पुराणों का उपर्युक्त अलंकारिक उपाख्यान-यही प्रतिपादित करता है कि ब्रह्म-परमेश्वर अपनी परा और अपरा प्रकृति के, जड़ और चेतन विभूतियों के माध्यम से समस्त सृष्टि का उद्भव-पोषण और प्रत्यावर्तन करता है।

मनुष्य इन परा और अपरा प्रकृतियों का सजीव सम्मिश्रण है। शरीर पंचतत्त्वों का बना होने से जड़ है। आत्मा विचारशील और भावसंपन्न होने से चेतन है। जड़ और चेतन का यह संयोग ही, मनुष्य की अद्भुत प्रतिभा का स्रोत है। जिन निम्न वर्ग वाले जीव-जंतुओं का चेतन जितना निर्बल है, वे उतने ही पिछड़े हुए हैं। हम इसीलिए अगणित संपदाओं और विभूतियों के अधिपति बन

सके कि, इसी काया में उत्कृष्ट स्तर की परा और अपरा प्रकृति को कर्ता ने भली प्रकार नियोजित कर दिया है।

काया में तो दो केंद्र इन शक्तियों के हैं। सावित्री-जड़-परा प्रकृति का केंद्र है। मूलाधार चक्र में कुंडलिनी महाशक्ति अत्यंत प्रचंड स्तर की क्षमताएँ दबाए बैठी हैं। पुराणों में इसे, महाकाली के नाम से पुकारा गया है। मोटे शब्दों में इसे कामशक्ति कह सकते हैं। कामशक्ति का अनुपयोग, सदुपयोग, दुरुपयोग किस प्रकार, मनुष्य के व्यक्तित्व को प्रभावित करता है, उसे आध्यात्मिक काम-विज्ञान कहना चाहिए, इस शक्ति का बहुत सूझ-बूझ के साथ प्रयोग किया जाना चाहिए, यही ब्रह्मचर्य का तत्त्वज्ञान है। बिजली को शक्ति से अगणित प्रयोजन पूरे किए जाते हैं और लाभ उठाए जाते हैं, पर यह होता तभी है, जब उसका ठीक तरह प्रयोग करना आए, अन्यथा चूक करने वाले के लिए तो वही बिजली प्राणघातक सिद्ध होती है।

कामशक्ति को गोपनीय तो माना गया है, जिस प्रकार धन कितना है, कहाँ है ? आदि बातों को आमतौर से लोग गोपनीय रखते हैं। उसकी अनावश्यक चर्चा करने से, अहित होने की आशंका रहती है। इसी प्रकार कामतत्त्व को गोपनीय ही रखा गया है, पर इसकी महत्ता, सत्ता और पवित्रता से कभी किसी ने इनकार नहीं किया। यह घृणित नहीं, पवित्रतम है। यह हेय नहीं, अभिवंदनीय है। भारतीय आध्यात्मशास्त्र के अंतर्गत शिव और शक्ति का प्रत्यक्ष समन्वय जिस पूजा-प्रतीक में प्रस्तुत किया गया है। उसमें उस रहस्य का सहज ही उद्घाटन हो जाता है। शिव को पुरुष की जननेंद्रिय और पार्वती को नारी की जननेंद्रिय का स्वरूप दिया गया है। उनका सम्मिलित विग्रह ही, अपने देव मंदिर में स्थापित है। यह अश्लील नहीं है। तत्त्वतः यह सृष्टि में संचरण और उल्लास उत्पन्न करने वाले प्राण और रयि, अग्नि और सोम के संयोग से उत्पन्न होने वाले, महानतम शक्तिप्रवाह की ओर संकेत है। इस तत्त्वज्ञान को समझना न तो अश्लील है और न घृणित,

वरन् शक्ति के उद्‌भव, विकास एवं विनियोग का उच्चस्तरीय वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारभूत एक दिव्य संकेत है। यदि ऐसा न होता, तो अपने त्रिकालदर्शी और ईश्वर के समकक्ष स्तर पर पहुँचे हुए ऋषिगण भगवान् शिव और उनकी स्फुरणाशक्ति का समन्वय मंदिरों में स्थापित न करते। हेय तो हर वस्तु का दुरुपयोग ही होता है, अमृत भी दुरुपयोग से विष बन सकता है। कामशक्ति स्वयं घृणित नहीं। घृणित तो वह विडंबना है, जिसके द्वारा इतनी बहुमूल्य ज्योति धारा को शरीर को जर्जर और मन को अधःपतित करने के लिए, अविवेकपूर्वक प्रयुक्त किया जाता है। सावित्री का, कुंडलिनी का प्राण काम, पतित कैसे हो सकता है ? जो जितना उत्कृष्ट है, विकृत होने पर वह उतना ही निकृष्ट बन जाता है, यह एक तथ्य है। काम-तत्त्व के बारे में भी यही सिद्धांत लागू होता है। जब वह विद्रोही और उच्छृंखल हो उठा और अवांछनीय चेष्टाएँ करने लगा, तभी उसके शमन का प्रयोग करना पड़ा। भगवान् शिव ने तीसरा नेत्र खोलकर, उसकी कुचेष्टाओं को जलाया था। उसके अस्तित्व को छेड़ा नहीं, वरन् उसे वरदान देकर अजर-अमर बना दिया। यदि वह वस्तुतः अनुपयुक्त होता, तो शिवजी त्रिपुर असुर की तरह, उसे भी समूल नष्ट कर सकते थे, पर ऐसा किया नहीं गया। ऐसा हो गया होता, तो यह संसार की महानतम दुर्घटना होती। फिर प्राणी अशक्त और अवसरग्रस्त, नीरस, निराश और निरीह जीवन जीकर किसी प्रकार मौत के दिन पूरे करते भर दिखाई देते। यहाँ आनंद और उल्लास जैसी—उमंग और उत्साह जैसी शक्ति, प्रगति, श्री समृद्धि उत्पन्न करने वाली कोई परिस्थिति, देखने को न मिलती।

ब्रह्मा की दूसरी पत्नी—शक्ति-गायत्री, जिसे विचारणा एवं भावना कहते हैं, अपने स्थान पर अति महत्त्वपूर्ण हैं। मानवीय चिंतन का उचित निर्देशन उसी के द्वारा होता है। ऋतंभरा प्रज्ञा ही नर-पशु को नर-नारायण बनाती है। समस्त धर्मशास्त्र, तत्त्वज्ञान, स्वाध्याय, सत्संग, मनन-चिंतन, उसी की क्षेत्र परिधि में आता है।

उसके प्रकाश विस्तार पर कोई प्रतिबंध न होने से, अतीत से लेकर अद्यावधि पर्यंत बहुत कुछ कहा-सुना जाता रहा है। उसी की चर्चा की जाती रही है। सावित्री की चर्चा अधिक हो न सकी। कुंडलिनी शक्ति की गोपनीयता का उद्घाटन करने से, कतराने की ही परंपरा चली आई है। गोपनीयता की मर्यादा जहाँ तक रही, वहाँ तक उसे तंत्र-विद्या के माध्यम से, किसी न किसी रूप में कहा, बताया जाता रहा। पर जब दुरुपयोग का विग्रह-उग्र से उग्रतर होने लगा और बात अश्लीलता तक पहुँच गई। उसके प्रयोक्ता असुर दुष्टता को अपनाने लगे, तो उसकी चर्चा और भी अधिक अस्पर्श हो गई। तंत्र काल जब तक रहा, तब तक स्नायुमंडल में थिरकती हुई इस महाकाली की विवेचना और साधना सम्मानित बनी रही। दस महाविद्याएँ, जिनकी साधना से भौतिक जीवन में, ऋद्धि-सिद्धियों का अद्भुत संचरण होता है—तंत्र-विज्ञान की आधार स्तंभ हैं। इन दस देवियों का पूजा प्रकरण हमने अपने तंत्र-विज्ञान ग्रंथ में लिखा भी है, पर गहन क्षेत्र में प्रवेश करने पर स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुस्थिति पूजा-उपासना तक सीमित नहीं। उन्हें जीवन की ज्योतिर्मयी शक्तिपीठ ही कहना चाहिए। दस विद्याएँ मात्र पूजा-साधना में प्रयुक्त होने वाली देवियाँ नहीं हैं, वरन् मानवीय चेतना की समस्त क्रिया- प्रक्रियाओं में व्याप्त शक्ति निर्झरणी है, जिनमें स्नान अवगाहन करने पर मनुष्य, सामान्य न रहकर असामान्य बनता है और तुच्छता का कलेवर उतारकर महानता की भूमिका में प्रवेश करता है।

समय आ गया कि काम-विद्या के तत्वज्ञान का संयत और विज्ञानसम्मत प्रतिपादन करने का साहस किया जाए और संकोच का यह परदा उठा दिया जाए कि, इस महान् विद्या की विवेचना हर स्तर पर अश्लील ही मानी जाएगी—उसे हर स्थिति में गोपनीय ही रखा जाना चाहिए। यह संकोच मानवजाति को एक महान् लाभ से, वंचित ही रखे रहेगा। चर्चा करने वाले को लोग, हलके स्तर का समझेंगे, उसकी गरिमा घटेगी, यह अपराध ही है। शरीरशक्ति का

शिक्षण करने वाले उपाध्याय जननेंद्रियों का स्वरूप समझाने में झिझककर अपने छात्रों को, उस महत्त्वपूर्ण ज्ञान से वंचित नहीं करते हैं। यदि यह संकोचशीलता न तोड़ी जाती, तो यौन रोगों के चिकित्सक कहाँ से आते ? प्रसव सहायता और गर्भाशयों की शल्य-क्रिया कैसे संभव होती ? संकोच वहाँ उचित है, जहाँ कुत्साएँ भड़कने की आशंका हो। प्रतिबंध पशुता भड़काने वाली, अश्लीलता-कामुकता, वासना की आत्मघाती प्रवृत्ति पर होना चाहिए। सृष्टि की संचरण प्रक्रिया और मानवजीवन की अतिशय महत्त्वपूर्ण एवं प्रेरक प्रवृत्ति की दिशा-विदिशा जानने से वंचित रहना, वस्तुतः अपने ही पैरों कुल्हाड़ी मारना है। उचित ज्ञान के अभाव में ही, प्रक्षिप्त ज्ञान को विस्तार मिलता है। काम-वासना मानवजीवन की एक अति प्रबल प्रवृत्ति है। उसकी हलचल मस्तिष्क को, उद्वेलित करती ही रहती है। फलतः व्यक्ति उस संबंध में कुछ न कुछ कहने-सुनने के, पूछने-बताने के, पढ़ने-जानने के लिए भी खोजबीन करता रहता है। उच्चस्तरीय जानकारी न होने से, उसे घटिया, विकृत और अवांछनीय सामग्री हाथ लगती है। जिससे आत्मघात करने का ही पथ प्रशस्त होता है। इस स्थिति से बचने की दृष्टि से भी यह आवश्यक है। काम-प्रवृत्ति की तथ्यपूर्ण जानकारी सर्वसाधारण को उपलब्ध रहे और उसके आधार पर उसे अपने व्यक्तित्व-विकास एवं शक्ति संतुलन में सहायता मिलती रह सके। आध्यात्मिक काम-विज्ञान का प्रथम पाठ आज की स्थिति में भारतीयों को यह पढ़ाना चाहिए कि वे प्रकृति और पुरुष की समीपता एवं एकता को तात्त्विक दृष्टि से देखें और उनका समन्वय वैसे ही करें, जैसे कि, एक ही शरीर में रहने वाले इन दो तत्त्वों का सहज भाव से बन चला है। मस्तिष्क प्राण का, अग्नि का, ब्रह्म का प्रतीक है। मूलाधार-काम संस्थान—रयि का, सोम का, प्रकृति का प्रतीक है। दोनों एक ही शरीर में घुले मिले आसपास रहते हैं। दोनों की सह स्थिति कोई उपद्रव उत्पन्न नहीं करती, वरन् एक अपूर्णता को पूर्णता में विकसित करती है। दो पृथक् अंगों की सीमा में

विकसित होकर, यही प्रक्रिया एक से दो में और दो से बहुत में विकसित होती है। नर और नारी दोनों ही मनुष्य हैं और दोनों के अस्तित्व में प्रत्यक्षतः कोई बड़ा अंतर नहीं है। दोनों की योग्यता, मर्यादा और क्षमता लगभग एक ही माननी चाहिए, पर यदि सूक्ष्मता की गहराई में जाया जाए, तो उनकी मूल-प्रकृति में पाया जाएगा-नर जहाँ प्राण का, पौरुष का, अग्नि का, बाहुल्य रख रहा होगा, वहाँ नारी सोम की, सौजन्य की, भावना का प्रतिनिधित्व कर रही होगी। दोनों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं और उनका महत्त्व समान रूप से मूल्यवान् है। दोनों एकदूसरे के पूरक हैं। समीपता से दोनों एक-दूसरे को बहुत कुछ देते हैं और दे सकते हैं। एक दूसरे के विरोधी नहीं पूरक हैं। इसलिए उन्हें परस्पर अछूत की तरह नहीं रहना चाहिए, पिछले दिनों सामंतवादी युग में नारी का बहुत ही दु:खद और दुर्भाग्यपूर्ण चित्रण कर दिया गया। उसे स्वर्ग की देवी के उच्च स्थान से घसीटकर वैश्या जैसे नारकीय स्तर का चित्रित किया गया। कामिनी और रमणी मात्र उसे रहने दिया गया। कला के नाम केवल घृणित वासना की प्रतिमूर्ति, नारी को सँजोया गया। गीत, काव्य, चित्र मूर्ति, अभिनय, नृत्य, साहित्य आदि कला के जितने भी स्वर थे, सबने मिलकर नारी को यौनलिप्सा की पूर्ति में प्रयुक्त होने वाली भोगसामग्री के रूप में प्रतिपादित किया। मस्तिष्क उसी साँचे में ढलते चले गए और नारी का स्वाभाविक वेष-विन्यास ऐसा अभ्यस्त करा दिया गया, जिससे वासना भड़काना ही उसका एकमात्र लक्ष्य दीखने लगे। नारी को जिस कुरुचिपूर्ण साज-सज्जा में अलंकृत आज सर्वत्र देखा जाता है, उसके पीछे सामंतवादी युग की बनी दुरभिसंधि काम कर रही हैं। यों तत्त्वतः नारी का यह घोर अपमान है कि वह नर की वासना भड़काने वाली, साज-सज्जा को स्वीकार कर ले। कोई दिन ऐसा जरूर आएगा, जब वह अपने ऊपर चढ़ाए गए इन आवरणों के प्रति विद्रोह करेगी और नर-नारी को समान वेष-भूषा का साज-सज्जा का प्रचलन होगा। जब नर-नारी को प्रलोभित करने की दृष्टि से सज-धज नहीं,

बनाव-श्रृंगार, साधन नहीं जुटाता, तो नारी ही भड़कीली सज्जा अपनाकर अपनी हीनता का परिचय क्यों दे ? भोग्या होने का प्रदर्शन वह क्यों न अपने व्यक्तित्व का अपमान समझे ? एक दिन यह भाव जागेंगे ही और या तो नर स्वयं समझेगा या फिर जाग्रत् नारी उन समस्त बौद्धिक दुरभिसंधियों को कला के नाम पर बुने गए मकड़ी के जाले को तोड़कर रख देगी, जो उसे हेय, हीन, घृणित भोग्या, रमणी, कामिनी जैसी लांछनों से तिरस्कृत करते हैं।

नारी का जो स्वाभाविक स्थान है, वह उसे मिलना ही चाहिए। समाज में उसे पुरुष का पूरक बनकर रहना चाहिए। नारी के अछूत अस्पर्श्य की स्थिति, जो इन दिनों बनी हुई है उसका एकमात्र कारण वह रुग्ण मनोवृत्ति है, जिसके अनुसार नारी का अस्तित्व काम-सेवन भर मान लिया गया है। यदि उसे बहन, बेटी, माँ, सखी और पूरक मान लिया जाए, तो जिस प्रकार दो पुरुषों के सान्निध्य से काम-प्रवृत्ति भड़कने का कोई डर नहीं रहता, उसी प्रकार नर-नारी के बीच भी अकारण कलुष-कषाय उत्पन्न न हो। वासना या विकार के लिए न नर का अस्तित्व दोषी है न नारी का। केवल मनोवृत्ति दोषी है, जो अवांछनीय तत्त्वों में मौजूद भ्रम-जंजाल के रूप में, कागज के रावण की तरह बनाकर खड़ी कर दी गई है।

आज अपने समाज में नारी को नर से, सर्वथा दूर रखा जाता है। दोनों कहीं मिल रहे हों, बात कर रहे हों, हँस रहे हों, तो उसे मात्र व्यभिचार का प्रयोजन सोचा जाएगा, चाहे प्रसंग कितना ही पवित्र क्यों न चल रहा हो। यह हमारी तुच्छता का घृणिततम स्वरूप है। नारी बिना हेय प्रयोजन के, नर से अन्य किसी प्रसंग पर बात ही नहीं कर सकती, उसके मन में कुत्सा के अतिरिक्त और कुछ रहता ही नहीं, यह सोचकर परदे जैसे कठोर प्रतिबंध की जंजीरों में कसना निस्संदेह अति घृणित और अति ओछी मनोवृत्ति का परिचय देना है। हम इसी दुर्बुद्धि में फँस गए हैं। भारतीय समाज में परदा-प्रथा का अभी तक बने रहना, अपने चारित्रिक पिछड़ेपन को ही प्रदर्शित करता है। इसमें लाभ रत्ती भर नहीं, हानि

अपार है। नारी में हीनता की भावना जम गई, उसका साहस चला गया, परावलंबी बन गई, पग-पग पर झिझक सवार है, प्रगति की दिशा में साहस नहीं कर पाती, स्वावलंबन की बात सोचते डरती है। इस स्थिति ने उसके व्यक्तित्व को—इतना दुर्बल बना दिया कि, वह पग-पग पर पददलित होती है। उच्च वर्ण के हिंदू लड़के का विवाह तब करते हैं, जब लड़की के साथ मोटी रकम भी दहेज में दी जाए। बिना मूल्य नारी की उपलब्धि, नर का असामान्य-सौभाग्य है। इस सौभाग्य का कुछ भी मूल्य न समझा जाए और उसे अति तुच्छ समझकर, दहेज मिलने पर ही स्वीकार किया जाए, यह नारी की दयनीय और हृदय विदारक दुर्दशा का दुर्भाग्यपूर्ण चित्र है। इसका दोष उस मनोवृत्ति को है, जिससे नारी को भोग्या समझा और अन्य भोग-सामग्रियों की तरह अपने लिए संग्रह करने की दृष्टि से प्रतिबंधित किया। इस बंधन ने नारी को इतना दुर्बल बना दिया कि यह समाज के लिए, परिवार के लिए, अपने लिए केवल भार-भूत बनकर रही है।

इस स्थिति का अंत किया जाना चाहिए और सर्वसाधारण को यह समझाया जाना चाहिए कि नारी न भोग्या है, न रमणी, न कामिनी। वह भी मनुष्य ही है, अगणित विभूतियों की धनी है, नर की पूरक है। दोनों हिल-मिलकर सहयोगी सहचर की तरह रहें, यही स्वाभाविक, उचित और न्यायसंगत है। प्रतिबंधों के पीछे जिस व्यभिचार पर नियंत्रण की बात सोची जाती है, वह सर्वथा निरर्थक है। व्यभिचार मात्र क्रिया नहीं है। वस्तुतः वह दूषित दृष्टि ही है, जिसमें दृष्टि दोष भरा पड़ा है, वह अविवाहित भी व्यभिचार का दंड भुगतेगा और जिसकी भावनाएँ पवित्र हैं, वह विवाहित रहते हुए भी ब्रह्मचारी है। हमें इसी प्रवृत्ति का विकास करना चाहिए और रमणी, कामिनी की भाषा में सोचना बंद कर देना चाहिए। कला के नाम पर जिन दुष्ट दुरात्माओं ने नारी को वेश्या का स्थान देने की ठान-ठानी है, उन्हें अपराधियों की पंक्ति में खड़ा करना चाहिए। नारी भी नर की भाँति मात्र मनुष्य हैं और मनुष्य को मनुष्य से

सहयोग संपर्क रखने की छूट होनी ही चाहिए। यह मानवीय और सामाजिक न्याय की माँग है, जिसे अधिक दिन तक बेरहमी के साथ दबाया नहीं जाना चाहिए। परस्पर पूरक रहकर, सहयोग और सद्भाव की, नेह और सौजन्य की भावनाओं का विकास करते हुए ही हम वांछनीय एवं स्वाभाविक स्थिति का समाज विनिर्मित कर सकते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से तो यह नितांत आवश्यक है। प्राण और रयि की समीपता बिना आंतरिक उल्लास के उद्भव ही न हो सकेगा। माना कि बिना पत्नी के सरसता, बहन के बिना सौहार्द, पुत्री के बिना स्नेह की धाराएँ सूखी ही पड़ी रहेंगी और नारी को अछूत मानने वाला नर, मरघट में रहने वाले प्रेत-पिशाच की तरह एकाकीपन की आग में जलता रहेगा। इसी प्रकार प्रतिबंधित नारी भी मणिविहीन सर्प की तरह खोई-खोई, भूली-भटकी-सी अशांत, उद्विग्न और अविकसित बनी रहेगी। इस अवांछनीय स्थिति को जिस गर्हित काम-विज्ञान ने उत्पन्न किया है, उसे बहिष्कृत करना ही होगा। ब्रह्म और प्रकृति सान्निध्य की तरह नर-नारी का स्नेह सद्भाव बढ़ने से सृष्टि का मानवसमाज का सौंदर्य और प्रकाश बढ़ेगा ही, घटेगा नहीं।

यौन संपर्क एक विशेष प्रक्रिया है। उसके पीछे अग्नि और सोम के मिलन से उत्पन्न, एक विद्युत् संचार की विशेष प्रक्रिया सन्निहित है, इसलिए इसकी उपयुक्तता और पवित्रता पर अधिकतम ध्यान रखा जा सकता है, पर वह प्रयोजन अनावश्यक प्रतिबंधों से न हो सकेगा। यह प्रतिबंध तो उस दुष्ट मान्यता को ही बल देगा, जिसके अनुसार व्यभिचार के अतिरिक्त और किसी प्रयोजन के लिए नर-नारी की चर्चा ही नहीं कर सकते। वर्तमान प्रतिबंधों की अवांछनीयता समझी जानी चाहिए और उन्हें इस दृष्टि से शिथिल एवं समाप्त किया जाना चाहिए कि, नर और नारी स्वेच्छा से सद्भाव की महत्ता स्वीकार कर सकें और अधिकतम पवित्रता के साथ सहयोग और सौजन्य के साथ रह

सकें और प्रगति की दिशा में एक-दूसरे के पूरक बनकर, साहसपूर्ण कदम बढ़ा सके।

☆ नारी को कामिनी और रमणी न बनाया जाए

दो पहिए बिना गाड़ी नहीं चल सकती। नर और नारी के घनिष्ठ सहयोग बिना, सृष्टि का व्यवस्थाक्रम नहीं चल सकता। दोनों का मिलन कामतृप्ति एवं प्रजनन जैसे पशुप्रयोजन के लिए नहीं होता, वरन् घर बसाने से लेकर व्यक्तियों के विकास और सामाजिक प्रगति तक समस्त सत्प्रवृत्तियों का ढाँचा दोनों के सहयोग से ही संभव होता है। यह घनिष्ठता जितनी प्रगाढ़ होगी, विकास और उल्लास की प्रक्रिया उतनी ही सघन होती चली जाएगी।

कुछ समय से नर-नारी के सान्निध्य का प्रश्न, जातिवाद के दो अंतिम सिरों के साथ जोड़ दिया गया है। एक ओर तो नारी को इतनी आकर्षक चित्रित किया गया कि, उसकी मांसलता को ही सृष्टि की सबसे बड़ी विभूति सिद्ध कर दिया गया। कला ने नारी के अंग-प्रत्यंग की सुडौलता को इतना सराहा कि सामान्य भावुक व्यक्ति यह सोचने के लिए विवश हो गया कि ऐसी सुंदरता को कामतृप्ति के लिए प्राप्त कर लेना, जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। गीत, काव्य, संगीत-नृत्य, अभिनय, चित्र, मूर्ति आदि कला के समस्त अंग जब नारी की मांसलता और कामुकता को ही आकाश तक पहुँचाने में जुट जाएँ, तो बेचारी लोकवृत्ति को उधर मुड़ना पड़ेगा। इस कुचेष्टा का घातक दुष्परिणाम सामने आया। यौन प्रवृत्तियाँ भड़की, नर-नारी के बीच का सौजन्य चला गया और एक-दूसरे के लिए अहितकर बन गए। यौन रोगों की बाढ़ आई, शरीर और मन जर्जर हो गया, पीढ़ियाँ दुर्बल से दुर्बलतर होती चली गईं। मनःस्थिति उस कुचेष्टा के चिंतन में तल्लीन होने के कारण, कुछ महत्त्वपूर्ण चिंतन कर सकने में असमर्थ हो गई। तेज-ओज-व्यक्तित्व, प्रतिभा, मेधा, शौर्य और वर्चस्व जो कुछ महान् था

वह सब कुछ इसी कुचेष्टा की वेदी पर बलि हो गया। दुर्बल काया और मनःस्थिति को लेकर मनुष्य दीन-हीन और पतित, पापी ही बन सकता था, सो बनता चला गया। नारी को रमणी सिद्ध करके, तुच्छ-सा मनोरंजन भले पाया हो, पर उससे जो हानि हुई उसकी कल्पना कर सकना भी कठिन है। जिसने भी मानवीय प्रवृत्तियों को इस पतनोन्मुख दिशा में मोड़ने के लिए प्रयत्न किया है वस्तुतः एक दिन वे मानवीय विवेक और ईश्वरीय न्याय की अदालत में अपराधियों की तरह खड़े किए जाएँगे।

जो लोग फ्रायड जैसे मनोवैज्ञानिकों का नाम लेकर, इस कुत्सा को भड़काने के लिए आज कला प्रयोजनों को पूरी तरह इस स्वच्छंदता के पैरों में डाल दिया है, वे भले ही कहने को बुद्धिजीवी और विचारणीय क्यों न हों, उन्हें मानवीय सभ्यता पर कलंक लगाने वाला ही कहा जाएगा। न तो मनोविज्ञान की दृष्टि से और न ही विज्ञान की दृष्टि से कामवासना की अति मनुष्य के लिए नितांत आवश्यक नहीं है, उसकी अति तो सर्वथा संकट भरा परिणाम ही प्रस्तुत कर सकती है, कर रही है, इस आत्मप्रवंचना से बचा जाना चाहिए।

लंदन के एक अन्य मनोविज्ञानशास्त्री ने तो इस सिद्धांत की नींव ही हिला कर रख दी। लिसैस्टर विश्वविद्यालय के मनोविज्ञान के प्राध्यापक श्री डेविड राइट ने अनेक बंदी-शिविरों, फौजी-संस्थानों, खेल-कूद और पर्वतारोहण जैसी सामाजिक, सामुदायिक और राष्ट्रीय संधि के कार्यों में भाग लेने वालों के जीवन विस्तृत अध्ययन करने के बाद पाया कि उनमें से अधिकांश सामान्य परिस्थितियों में ही संभोग का आनंद लेते रहे। उन्हें अपने अभियान अथवा उसके बाद विषय-भोग की कभी भी इच्छा नहीं होती, जब तक कि वे या तो स्वयं भूतकालीन संभोग का स्मरण नहीं करते या उनके सामने इस तरह की चर्चा के विषय नहीं आते। यदि वे इच्छा न करें अथवा उनके सामने कामुकता भड़काने वाली प्रवृत्तियाँ न

आएँ, तो वे कामवासना के लिए कभी परेशान नहीं होंगे, वरन् उनमें मनोविनोद, आह्लाद के स्वभाव का विकास ही होने लगता है।

श्री डैविड राइट ने द्वितीय महायुद्ध के दौरान बंदी बनाए गए जापानियों, साइबेरिया शिविर में बंदी लोगों तथा अस्पतालों के उन लोगों से जाकर भेंट की, जो लंबे समय से किसी बीमारी से आक्रांत पड़े थे। उनसे बात-चीत करते समय उन्होंने पाया कि, उनमें काम-वासना की कोई इच्छा नहीं रह गई थी, तो भी वे न तो अशांत थे, न उद्विग्न वरन्, उनके अंतःकरण से एक प्रकार की शांति और आत्मविश्वास की झलक देखने को मिलती थी। यह आत्मविश्वास अच्छे अर्थों में था कि यदि इन परिस्थितियों से मुक्ति मिले, तो अमुक-अमुक अच्छे काम करें।'

श्री डैविड राइट के इस कथन की और भी पुष्टि वैज्ञानिक अनुसंधान द्वारा मिल जाती है और इस तरह के सिद्धांत का लगभग अंत ही हो जाता है। आने वाले समय में लोग फ्रायड के सिद्धांत को तूल देकर अपना न तो मस्तिष्क खराब करेंगे और न शरीर की शक्तियाँ बरबाद करेंगे, वरन् शक्तियों के संचय से, जीवन की अनेक ऐसी धाराओं का विकास करने में समर्थ होंगे, जिनका संबंध आध्यात्मिक तत्त्वों से है और जो यथार्थ में मनुष्य के लक्ष्य हैं। ईश्वर, आत्मा, परलोक, पुनर्जन्म जैसे आध्यात्मिक सत्यों की शोध में ब्रह्मचर्य सबसे अधिक सहायक है। आगे की पीढ़ी का ध्यान ब्रह्मचर्य द्वारा शक्ति संयम और उससे जीवन की प्रसन्नता के लिए नई-नई विधाओं की खोज की ओर कहीं अधिक होगा।

मेरीलैंड (अमेरिका) के नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ चाइल्ड हेल्थ एंड ह्यूमन डेवलपमेंट (अमेरिका की एक राष्ट्रीय संस्था जो बच्चों के स्वास्थ्य और मानव-विकास की आवश्यकताओं की शोध और शिक्षण करती है।) ने एक खोज में बताया कि मनुष्य शरीर की कोशिकाओं में गुणसूत्रों (क्रोमोसोम्स—अर्थात् व्यक्ति के शरीर-स्वभाव का निर्धारण करने वाले तत्त्व) के तेईस जोड़े रहते हैं। प्रत्येक जोड़े में १ गुणसूत्र पिता का, एक माता का होता है।

२२ जोड़े ऐसे होते हैं, जिनका कामवासना संबंधी गुणों का विकास से कोई संबंध नहीं होता। अधिकतम १ ही जोड़ा कामवासना का रहता है, इसी से काम-वासना की प्रवृत्ति का व्यक्ति में निर्धारण होता है। किंतु कुछ मामलों में यह भी देखा गया है कि, उस जोड़े में भी १ गुणसूत्र या तो माता की ओर का या पिता की ओर का था ही नहीं। सारे २३ समूहों में केवल एक ही गुण था—ऐसे व्यक्तियों में सेक्स अंगों का विकास तो असामान्य होता है, किंतु उनके स्वभाव में कामवासना संबंधी कोई विशेष रुचि नहीं होती, वरन् कई बातों में वे असाधारण प्रतिभा वाले सिद्ध हुए। बेशक ! कुछ एक ऐसे भी उदाहरण आए जबकि बाईस जोड़े अलिंगी गुणसूत्रों (आटोसप्रल क्रोमोसोम) की जगह २१ जोड़े ही रह गए, शेष दो में से एक तो पूरा ही जोड़ा कामसंबंधी गुणसूत्र का था, जबकि दूसरे में भी एक गुणसूत्र कामवासना वाला था। वैज्ञानिकों ने पाया कि इसके अतिरिक्त कामवासना के गुणसूत्र वाले सभी व्यक्ति लंपट क्रोधी, असामाजिक और खूँख्वार थे। तात्पर्य यह कि, कामवासना पर नियंत्रण न होना व्यक्ति के लिए सुविधा का नहीं, पतन का ही कारण हो सकता है।

अतिवाद का एक सिरा यह है कि नारी को कामिनी, रमणी, वेश्या आदि बनाकर उसे आकर्षण का केंद्र बनाया गया। अतिवाद का दूसरा सिरा यह है कि, उसे परदे-घूँघट की कठोर जंजीरों में जकड़कर अपंग सदृश बना दिया गया। उस पर इतने प्रतिबंध लगाए गए, जितने बंदी और पशु भी सहन नहीं कर सकते। जेल में कैदियों को थोड़ी घूमने-फिरने की, हँसने-बोलने की आजादी रहती है, पर घर की छोटी-सी कोठरी में कैद नव-वधू के लिए परिवार के छोटी आयु वालों के सामने ही बोलने की छूट है। बड़ी आयु वालों से तो उसे परदा ही करना चाहिए। न उनके सामने मुँह खोला जा सकता है और न उनसे बात की जा सकती है। परदा सो परदा—प्रथा सो प्रथा-प्रतिबंध सो प्रतिबंध, इससे न्याय, औचित्य और विवेक के लिए क्यों गुंजायश छोड़ी जाए ? पशु को मुँह पर

नकाब लगाकर नहीं रहना पड़ता। वे दूसरों के चेहरे देख सकते हैं और अपने दिखा सकते हैं। जब मरजी हो चाहे-जिसके सामने अपनी टूटी-फूटी वाणी बोल सकते हैं, पर नारी को इतने अधिकार से भी वंचित कर दिया गया।

इस अमानवीय प्रतिबंध की प्रतिक्रिया बुरी हुई। नारी शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से बहुत पिछड़ गई। भारत में नर की अपेक्षा नारी की मृत्यु दर बहुत अधिक है। मानसिक दृष्टि से वह आत्महीनता की ग्रंथियों में, जकड़ी पड़ी है। सहमी, झिझकी, डरी, घबराई, दीनहीन अपराधिन की तरह वह यहाँ-वहाँ लुकती-छिपती देखी जा सकती है। अन्याय, अत्याचार और अपमान पग-पग पर सहते-सहते—क्रमशः अपनी सभी मौलिक विशेषताएँ खोती चली गई। आज औसत नारी उस नींबू की तरह है, जिसका रस निचोड़कर उसे कूड़े में फेंक दिया जाता है। नव यौवन के दो-चार वर्ष ही उनकी उपयोगिता, प्रेमी प्रतिदेव की आँखों में रहती है। अनाचार की वेदी पर जैसे ही उस सौंदर्य की बलि चढ़ी कि वह दासी मात्र शेष रह जाती है। आकर्षण की तलाश में भौंरे फिर नए-नए फूलों की खोज में निकलते और इधर-उधर मँडराते दीखते हैं। जीवन की लाश का भार ढोती हुई—गोदी के बच्चों के लिए वह किसी प्रकार मौत के दिन पूरे करती है। जो था, वह दो-चार वर्ष में लुट गया, अब बेचारी को कठोर परिश्रम के बदले में पेट भरने के लिए रोटी और पहनने को कपड़े भर पाने का अधिकार है। बंदिनी का अंतःकरण इस स्थिति के विरुद्ध भीतर ही भीतर कितना ही विद्रोही बना बैठा रहे, प्रत्यक्षतः वह कुछ न कर सकने की परिस्थितियों में ही जकड़ी होती है, सो गम खाने और आँसू पीने के अतिरिक्त उसके पास कुछ चारा नहीं रह जाता।

ऐसी विषम स्थिति में पड़ी हुई नारी का व्यक्तित्व उसके अपने लिए, परिवार के लिए, बच्चों के लिए कुछ अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकता। जो खुद ही मर रहा है, वह दूसरों को जीवन क्या देगा ? समाज की कैसी विडंबना है कि एक ओर जहाँ नारी

को आकर्षण केंद्र मानकर उसके गुणानुवाद गाने में सारी भावुकता जुटा दी। दूसरी ओर उसे इतना पददलित, पीड़ित, प्रतिबंधित करने की नृशंसता अपनाई। यह दोनों अतिवादी सिरे ऐसे हैं, जिनका समन्वय कर सकना कठिन है।

तीसरा एक और अतिवाद पनपा। अध्यात्म के मंच से एक और बेसुरा राग अलापा गया कि नारी ही दोष-दुर्गुणों की पाप—पतन की जड़ है, इसलिए उससे सर्वथा दूर रहकर ही स्वर्गमुक्ति और सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। इस सनक के प्रतिपादन में न जाने क्या-क्या गढंत गढ़कर खड़ी कर दी गई। लोग घर छोड़कर भागने में—स्त्री, बच्चों को बिलखता छोड़कर भीख माँगने और दर-दर भटकने के लिए निकल पड़े। समझा गया, इसी तरह योगसाधना होती होगी, इसी तरह स्वर्गमुक्ति और सिद्धि मिलती होगी, पर देखा ठीक उलटा गया। आंतरिक अतृप्ति ने उनकी मनोभूमि को सर्वथा विकृत कर दिया और वे तथाकथित संत-महात्मा सामान्य नागरिकों की अपेक्षा भी गईगुजरी मनःस्थिति के दल-दल में फँस गए। विरक्ति का जितना ही ढोंग उन्होंने बनाया, अनुरक्ति की प्रतिक्रिया उतनी ही उग्र होती चली गई। उनका अंतरंग यदि कोई पढ़ सकता हो, तो प्रतीत होगा कि मनोविकारों ने उन्हें कितना जर्जर कर रखा है। स्वाभाविक की उपेक्षा करके अस्वाभाविक के जाल-जंजाल में बुरी तरह जकड़ गए हैं। ऐसे कम ही विरक्त मिलेंगे, जिन्होंने बाह्य जीवन में जैसे नारी के प्रति घृणा व्यक्त की है, वैसे ही अंतरंग में भी उसे विस्मृत करने में सफल हो पाए हों। सच्चाई यह है कि विरक्ति का दंभ अनुरक्ति को, हजार गुना बढ़ा देता है। 'बंदर का चिंतन न करेंगे' ऐसी प्रतिज्ञा करते ही बरबस बंदर स्मृति-पटल पर आकर उछल-कूद मचाने लगता है। यों स्वाभाविक रूप में बंदर के बारे में कुछ न सोचा जाता, तो शायद वर्षों तक उसका स्मरण न आता, पर अब जबकि बंदर का स्मरण ही नरक में गिराने वाला बता दिया गया, तो उसका स्मरण करने से मन को रोक पाना असंभव है। इस तथाकथित वैराग्य में,

नारी को पतन का कारण बताकर कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं किया गया। परदे के पीछे जो होता रहता है, वह दयनीय है। अतिवाद कभी भी उपयोगी नहीं रहा। काम तो मध्यम मार्ग से चलता है, उसी को अपनाकर कोई श्रेयाधिकारी बन सकता है।

आध्यात्मिक काम-विज्ञान का प्रतिपादन यह है कि अतिवाद की भारी दीवारें गिरा दी जाएँ और नारी को नर की ही भाँति सामान्य और स्वाभाविक स्थिति पर रहने दिया जाए, इससे एक बड़ी अनीति का अंत हो जाएगा। अतिवाद के दोनों ही पक्ष नारी के वर्चस्व पर भारी चोट पहुँचाते हैं और उसे दुर्बल, जर्जर एवं अनुपयोगी बनाते हैं। इसीलिए इन जाल-जंजालों से उसे मुक्त करने के लिए उग्र और समर्थ प्रयत्न किए जाएँ।

प्रयत्न होना चाहिए कि नारी की मांसलता की अवांछनीय अभिव्यक्तियाँ उभारने वालों से अनुरोध किया जाए कि वे अपने विष बुझे तीर कृपा कर तरकस में बंद कर लें। फिल्म वाले इस दिशा में बहुत आगे बढ़ गए हैं। उनने बंदर के हाथ तलवार लगने पर जैसी कुचेष्टा की, आशंका की वैसी ही करतूतें आरंभ कर दी हैं। आग लगा देना सरल है, बुझाना कठिन। मनुष्य की पशुप्रवृत्तियों को, यौन उद्वेग और काम-विकारों को भड़का देना सरल है, पर उस उभार से, जो सर्वनाश हो सकता है, उससे बचाव की तरकीब ढूँढ़ना कठिन है। ना समझ लड़के-लड़कियों पर आज का सिनेमा क्या प्रभाव डाल रहा है और उनकी मनोदशा को किधर घसीटे लिए जा रहा है, इस पर बारीकी से दृष्टि डालने वाला दुःखी हुए बिना न रहेगा। कला के अन्य क्षेत्रों में काम करने वाले विभूतिवानों से करबद्ध प्रार्थना की जाए कि वे नारी को पददलित करने के पापपूर्ण अभियान में जितना कुछ कर चुके, उतना ही पर्याप्त मान लें और आगे की ओर निशाने न साधें। कवि लोग ऐसे गीत न लिखें, जिनसे विकारोत्तेजक प्रवृत्तियाँ भड़कें। साहित्यकार—उपन्यासकार—कलम से नारी के गोपनीय संदर्भों पर भड़काने वाली चर्चा छोड़कर, सरस्वती की साधना को अगणित धाराओं में

प्रयुक्त कर, अपनी प्रतिभा का परिचय दें। गायक विकारोत्तेजना और श्रृंगार-रस को कुछ दिन तक विश्राम कर लेने दें। सामंतवादी अंधकार युग के दिनों उसे ही तो एकछत्र राज्य मिला है। गायन का अर्थ ही पिछले दिनों कामेंद्रिय रहा है। राज्य दरबारों से लेकर मनचले आवारा हिप्पियों तक, उसी को माँगा जाता रहा है। अब कुछ दिन को गान विश्राम लेले और दूसरें रसों को भी जीवित रहने का अवसर मिल जाए, तो क्या हर्ज है ? कुछ दिन तक घुँघरू न बजें, पायल न खनकें, तो भी कला जीवित रहेगी। चित्रकार नव-यौवन की शालीनता पर परदा पड़ा रहने दें, पतित दुःशासन द्वारा द्रौपदी को नंगा करने की कुचेष्टा न करें, तो भी उनकी चित्रकारिता सराही जा सकती है। चित्रकला के दूसरे पक्ष भी हैं, क्यों न कुशल चित्रकार, सरुचि उत्पन्न करने वाले चित्र बनाएँ ! मूर्तिकार क्यों न मानवीय अंतर्वेदना को उभारने वाली प्रतिमाएँ बनाएँ ! इन महारथी कलाकारों से कहा जाए कि सौजन्य का बालक अभिमन्यु इस बुरी तरह न मारा जाए। महाभारत का बहु कुकृत्य महारथियों के माथे पर कलंक का टीका ही लगा गया। अब फिर कलाकार महारथियों के चक्रव्यूह में फँसा शालीनता का अभिमन्यु उसी तरह फिर मारा गया, तो यह भारत— महाभारत— समस्त संसार की दृष्टि में आदर्शवादिता और आध्यात्मिकता का ढिंढोरा पीटने वाला दंभी ही माना जाएगा। जिस देश के कलाकार तक अपना उत्तरदायित्व न समझे-न निभाएँ, उस देश के सामान्य नागरिकों से कोई क्या आशा करेगा ? यदि उनके विष बुझे तीर इसी क्रम से चलते रहे, तो संसार भर में भारत से जिस नव युग निर्माण के प्रकाश की आशा की जाती है, उसका दीपक बुझ ही जाएगा। कलाकारों को कहा जाना चाहिए कि वे कृपा कर अपने कदम पीछे हटा लें। उनके इस अनुग्रह के बिना नारी की शालीनता, पवित्रता, उत्कृष्टता और समर्थता को बचाया न जा सकेगा।

नारी के प्रति हमारा चिंतन सखा, सहचर और मित्र जैसा सरल स्वाभाविक होना चाहिए। उसे सामान्य मनुष्य से न अधिक माना जाए न कम। पुरुष और पुरुष, स्त्रियाँ और स्त्रियाँ जब मिलते हैं, तो उनके असंख्य प्रयोजन होते हैं, कामसेवन जैसी बात वे सोचते भी नहीं। ऐसे ही नर-नारी का मिलन भी स्वाभाविक, सरल और सौम्य बनाया जाना चाहिए। यह स्थिति निश्चित रूप से आ सकती है, क्योंकि वही प्राकृतिक है। इसी प्रकार रूढ़िवादियों से कहा जाना चाहिए कि प्रतिबंधों से व्यभिचार रुकेगा नहीं, बढ़ेगा। जिस स्त्री का मुँह ढका होता है, उसे देखने को मन चलेगा, पर मुँह खोले सड़क पर हजारों-लाखों में से किसी की ओर नजर गड़ाने की इच्छा नहीं होती, चाहे वे रूपवान् हों या कुरूप। परदा यह मान्यता मजबूत करता है कि नारी-नर का संपर्क वासना के अतिरिक्त और किसी प्रयोजन के लिए हो ही नहीं सकता। यह विचारणा बहुत ही कलुषित, हेय और निकृष्ट स्तर की है। हमें अपनी बहन, बेटी, माता और पत्नी पर इतना विश्वास करना ही चाहिए कि वे बिना किसी प्रतिबंध के स्वेच्छापूर्वक अपनी शालीनता अक्षुण्ण रख सकने में समर्थ हैं। जब शासक, सामान्य निरीह प्रजा की बहन-बेटियों की इज्जत लूटने के लिए भेड़ियों की तरह गली-कूचों में फिरते रहते थे, वह जमाना बहुत पीछे रह गया। अब हम आत्मरक्षा के लिए उपयुक्त परिस्थितियों के बीच, जी रहे हैं। इसलिए आक्रांता और आततायियों के डर से नारी को प्रतिबंधित करने की भी, कोई आवश्यकता नहीं रही। फिर क्यों हम घूँघट, परदा प्रतिबंध के बंधनों में उसे जकड़ें और उसके स्वाभाविक जीवन का, ईश्वर प्रदत्त सुविधा को छीनने का पाप कमाएँ ? इसी प्रकार अध्यात्मवाद के नाम पर, नारी तिरस्कार और बहिष्कार की बेवक्त शहनाई बंद कर देनी चाहिए। जिन भगवान् की हम उपासना करते हैं और जिनसे स्वर्ग, मुक्ति, सिद्धि माँगते हैं, वे स्वयं सपत्नीक हैं। एकाकी भगवान् एक भी नहीं। राम, कृष्ण, शिव, विष्णु आदि किसी भी देवता को लें, सभी विवाहित हैं। सरस्वती, लक्ष्मी,

काली जैसी देवियों तक को दांपत्यजीवन स्वीकार रहा है। हर भगवान् और हर देवता के साथ उनकी पत्नियाँ विराजमान् हैं, फिर उनके मनों को, अपने इष्ट देवों से भी आगे निकल जाने की बात क्यों सोचनी चाहिए ?

सप्त ऋषियों में सातों के सातों विवाहित थे और उनके साधनाकाल की तपश्चर्या अवधि में भी, पत्नियाँ उनके साथ रहीं। इससे उनके कार्य में बाधा रत्ती भर नहीं पहुँची, वरन् सहायता ही मिली। प्राचीनकाल में जब विवेकपूर्ण अध्यात्म जीवित था, तब कोई सोच भी नहीं सकता था कि आत्मिक प्रगति में नारी के कारण कोई बाधा उत्पन्न होगी।

रामकृष्ण परमहंस को विवाह की आवश्यकता अनुभव हुई और उनसे उस व्यवस्था को तब जुटाया, जब वे आत्मिक प्रगति के ऊँचे स्तर पर पहुँच चुके थे। काम-सेवन और नारी-सान्निध्य एक बात नहीं है। इसके अंतर को भलीभाँति समझा जाना चाहिए। योगी अरविंद घोष की साधना का स्तर कितना ऊँचा था, उनमें संदेह करने की कोई गुंजाइश नहीं है। उनके एकाकी जीवन की पूरी-पूरी साज-सँभाल 'माताजी' करती रहीं। इस संपर्क से दोनों की आत्मिक महत्ता बढ़ी ही, घटी नहीं। प्रातःस्मरणीय माता जी ने अरविंद के संपर्क से भारी प्रकाश पाया और योगिराज को यह सान्निध्य गंगा के समान पुण्य फलदायक सिद्ध हुआ। प्राचीनकाल का ऋषि इतिहास तो आदि से अंत तक इस सरल स्वाभाविकता की सिद्धि करता चला आया है। तपस्वी ऋषि सपत्नीक स्थिति में रहते थे। जब जरूरत पड़ती, प्रजनन की व्यवस्था बनाते अन्यथा आजीवन ब्रह्मचारी रहकर भी नारी-सान्निध्य की व्यवस्था बनाए रखते। यह उनके विवेक पर निर्भर रहता था, प्रतिबंध ऐसा कुछ नहीं था। यह स्थिति आज भी उपयोगी रह सकती है। संत लोग अपना व्यक्तिगत जीवन विवाहित या अविवाहित जैसा भी चाहें बिताएँ, पर कम से कम उन्हें इस अतिवाद का ढिंढोरा पीटना तो बंद ही कर देना चाहिए, जिसके अनुसार नारी को नरक की खान कहा जाता

है। यदि ऐसा वस्तुतः होता, तो गांधी जी जैसे संत नारी त्याग की बात सोचते। कोई अधिक सेवा-सुविधा की दृष्टि से या उत्तरदायित्व हलके रखने की दृष्टि से अविवाहित रहे, सो यह उसका व्यक्तिगत निर्णय है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि ये भी कोई प्रतिबंध हो सकता है या होना चाहिए। सच तो यह है कि संत लोग यदि सपत्नीक सेवा कार्य में जुटें, तो वे अपना आदर्श लोगों के सामने प्रस्तुत करके, उच्चस्तरीय गृहस्थ जीवन की संभावना प्रत्यक्ष प्रमाण की तरह प्रस्तुत कर सकते हैं।

काम का अर्थ विनोद, उल्लास और आनंद है। मैथुन को ही काम नहीं कहते। काम-क्षेत्र की परिधि में वह भी एक बहुत ही छोटा और नगण्य-सा माध्यम हो सकता है, पर वह कोई निरंतर की वस्तु तो है नहीं। यदाकदा की उसकी उपयोगिता होती है। इसलिए मैथुन को एक कोने पर रखकर—उपेक्षणीय मानकर भी काम लाभ किया जाता है। स्नेह, सद्भाव, विनोद, उल्लास की उच्चस्तरीय अभिव्यक्तियाँ जिस परिधि में आती हैं, उसे 'आध्यात्मिक काम' कह सकते हैं। यह छोटे, बालकों से लेकर वृद्धों तक एक समान प्रयुक्त हो सकता है। नारी और नर को भी इस भावप्रवाह से वंचित नहीं किया जाना चाहिए। घर में बहन, बेटी, माता, भावज, चाची, दादी, बुआ, भतीजी आदि के साथ रहकर उनके साथ प्यार-दुलार के पवित्र संबंधों सहित आनंदित जीवन जिया जा सकता है, तो घर से बाहर की परिधि में ऐसा क्यों नहीं हो सकता ? हम पड़ौसी के परिवार में भी अपने ही घर-परिवार की तरह बिना नर-नारी का भेदभाव किए प्यार-दुलार क्यों नहीं बिखेर सकते ?

नर-नारी के बीच व्यापक सद्भाव—सहयोग की, संपर्क की स्थिति में व्यक्ति और समाज का विकास ही संभव है। उससे हानि रत्ती भर भी नहीं। स्मरण रखा जाए, पाप या व्यभिचार का सृजन संपर्क से नहीं, दुर्बुद्धि से होता है। पुरुष डॉक्टर नारी के प्रजनन अवयवों तक का, आवश्यकतानुसार आपरेशन करते हैं। उसमें न

पाप है, न अश्लील, न अनर्थ। रेलगाड़ी की भीड़ में नर-नारियों के शरीर पिचे रहते हैं, जहाँ पापवृत्ति न हो, वहाँ शरीर का स्पर्श दूषित कैसे होगा ? हम अपनी युवा पुत्री के सिर और पीठ पर स्नेह का हाथ फिराते हैं, तो पाप कहाँ लगता है। सान्निध्य पाप नहीं है। पाप तो एक अलग ही छूत की बीमारी है, जो तस्वीरें देखकर भी चित्त को उद्विग्न कर सकने में समर्थ है। इलाज इस बीमारी का किया जाना चाहिए। हमारी कुत्सा का दंड बेचारी नारी को भुगतना पड़े, यह सरासर अन्याय है। इस अनीति को जब तक बरता जाता रहेगा, नारी की स्थिति दयनीय ही बनी रहेगी और इस पाप का फल व्यक्ति और समाज को असंख्य अभिशापों के रूप में बराबर भुगतना पड़ेगा।

भगवान् वह शुभ दिन जल्दी ही लाए जब नर-नारी स्नेही-सहयोगी की तरह—मित्र और सखा की तरह—एक-दूसरे के पूरक बनकर सरल-स्वाभाविक नागरिकता का आनंद लेते हुए जीवनयापन कर सकने की, मनःस्थिति प्राप्त कर लें। हम विकारों को रोकें—सान्निध्य को नहीं। सान्निध्य रोककर विकारों पर नियंत्रण पा सकना, संभव नहीं है। इसलिए हमें उन स्रोतों को ही बंद करना पड़ेगा, जो विकार और व्यभिचार भड़काने में उत्तरदायी हैं। अग्नि और सोम, प्राण और रयि, ऋण और धन विद्युत् प्रवाहों का समन्वय, इस सृष्टि के संचरण और उल्लास को अग्रगामी बनाता चला आ रहा है। नर-नारी का सौम्य संपर्क बढ़ाकर, हमें खोना कुछ नहीं—पाना अपार है।

❑ ❑

काम-क्रीड़ा की उपयोगिता ही नहीं, विभीषिका का भी ध्यान रहे

पिछले दिनों अग्नि तत्त्व को बहुत महत्त्व मिला और सोम एक कोने में उपेक्षित पड़ा रहा। फलतः सृष्टि का—समाज का सारा संतुलन गड़बड़ा गया। हवनकुंड के चारों ओर एक पानी की नाली भरी रखी जाती है। कर्मकांड के ज्ञाता जानते हैं कि यज्ञकुंड में अग्नि कितनी ही प्रदीप्त क्यों न रहे, उसके चारों और घेरा सोम का—जल का ही रखना चाहिए। अग्नि को उतने समारोहपूर्वक यज्ञ आयोजनों में स्थापित नहीं किया जाता, जितनी धूमधाम के साथ कि जल यात्रा की जाती है और जल देवता को स्थापित किया जाता है। अग्नि का, ग्रीष्म ऋतु का—उत्ताप तीव्र होते ही, वर्षाऋतु दौड़ आती हैं और उस तपन का समाधान प्रस्तुत करती है।

नर को अग्नि, ऊष्मा और नारी को सोम, जल कहा गया है। नर की प्राणशक्ति का, पुरुषार्थ, क्षमता और कठोरता का—बौद्धिक प्रखरता का अपना स्थान है और उसका उपयोग किया जाना चाहिए, पर यदि उसे उच्छृंखल छोड़ दिया गया—नारी का नियंत्रण उस पर न हुआ, तो सृष्टि में क्रूरता और दुष्टता का उत्ताप ही बढ़ता चला जाएगा। परंपरा यही रही है कि, नर के श्रम, साहस का उपयोग क्रम चलता रहा है, पर नारी ने अपनी मृदुल भावनाओं से उसे मर्यादाओं में रहने के लिए नियंत्रित और बाध्य किया है। उसकी मधुर स्नेहसिक्त भावनाओं ने, क्रूरता को कोमलता में बदलने की अद्भुत सफलता पाई है। यह क्रम ठीक तरह चलता रहता; पुरुष का शौर्य, ओजस् अपनी प्रखरता से संपदाएँ उपार्जित करता और नारी अपनी मृदुलता से उसे सौम्य-सहृदय बनाती रहती, तो दोनों सही पहियों की गाड़ी से, प्रगति की दिशा में, सृष्टि व्यवस्था की यात्रा ठीक प्रकार संपन्न करते। चिरकाल तक वही

क्रम चला। उपार्जन नर ने किया और उसका उपयोग नारी ने। अब वह क्रम नहीं रहा। अब उच्छृंखल नर, हर क्षेत्र में सर्वसत्ता संपन्न दैत्य, दानव की तरह निरंकुश सत्ता का उद्धत उपयोग कर रहा है। नारी तो मात्र भोग्या, रमणी, कामनी बनकर विषय-विकारों की तृप्ति के लिए साधन-सामग्री मात्र रह गई है। उसके हाथ से वे सब अधिकार छीन लिए गए, जो अनादि से उस सृष्टिकर्त्ता ने सौंपे थे।

वैज्ञानिक, पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक हर क्षेत्र में दिशा निर्धारण के सूत्र नारी के हाथ में रहने चाहिए, तभी उपलब्ध संपदाओं का सौम्य सदुपयोग संभव हो सकेगा। आज हर क्षेत्र में विकृतियों की विभीषिकाएँ नग्न नृत्य कर रही हैं। इसके स्थूल कारण कुछ भी हों, सूक्ष्म कारण यह है कि, नारी का वर्चस्व नेतृत्व कहीं भी नहीं रहा, सर्वत्र नर की मनमानी चल रही है। उसकी प्रकृति में जो कठोरता का भला या बुरा तत्त्व अधिक है, उसी के द्वारा सब कुछ संचालित हो रहा है। फलस्वरूप हर क्षेत्र में उद्धतता का बोलबाला दीख पड़ता है। जल के अभाव में अग्नि-सर्वनाशी दावानल का रूप धारण कर लेती है। इन दिनों नारी को उपेक्षित, तिरस्कृत करने का, जो क्रम अपनाया गया है, उसका परिणाम व्यापक हाहाकार के रूप में सामने प्रस्तुत है।

स्थिति को बदलने और परिष्कृत करने के लिए, भूल को फिर सुधारना होगा और वस्तुस्थिति उपलब्ध करने के लिए पीछे लौटना होगा। नारी का वर्चस्व पुर्नस्थापित किया जाए और उसके हाथ में नेतृत्व सौंपा जाए, यह समय की पुकार और परिस्थितियों की माँग् है, उसे पूरा करना होगा। नव-युगनिर्माण के लिए जनमानस में जिन कोमल भावनाओं का परिष्कार किया जाना है, वह नारी सूत्रों से ही उद्‌भूत होगा। युद्ध, संघर्ष, कठोरता, चातुर्य, बुद्धिकौशल के चमत्कार देख लिए गए। उन्होंने संपदाएँ तो कमाईं, पर उसकी एकाकी उद्धत प्रकृति उसका सदुपयोग न कर सकी। स्नेह, सौजन्य, सद्‌भाव, सफलता की प्रतीक तो नारी है। उसी का वर्चस्व मृदुलता का संचार कर सकने में समर्थ है। उसे उपेक्षित

पड़ा रहने दिया जाए, तो उपार्जन कितना भी—किसी भी देश में क्यों न होता रहे—सदुपयोग के अभाव में, वह विश्वघातक ही सिद्ध होता रहेगा। संतुलन तभी रहेगा, जब नारी को पुनः उसके पद पर प्रतिष्ठापित किया जाए और शक्ति के उन्मत्त हाथी पर स्नेह का अंकुश नियोजित किया जाए।

भावनात्मक नवनिर्माण का यह अति महत्त्वपूर्ण सूत्र है। नारी का पिछड़ापन दूर किए बिना, उसे आगे लाए बिना, कोई गति नहीं—इस कदम को उठाए बिना, हमारी धरती पर स्वर्ग अवतरण करने और मनुष्य में देवत्व का उद्‌भव करने के, हमारे स्वप्न साकार न हो सकेंगे।

प्रतिबंधित नारी को स्वतंत्रता के स्वाभाविक वातावरण में साँस ले सकने की स्थिति तक ले चलने में प्रधान बाधा उस रूढ़िवादी मान्यता की है, जिसके अनुसार उसे या तो अछूत, बंदी, अविश्वस्त घोषित कर दिया गया है या फिर उसे कामिनी की लांछना से कलंकित कर दिया है। इन मूढ़ मान्यताओं पर प्रहार किए बिना, उनका उन्मूलन किए बिना, यह संभव न हो सकेगा कि, अंधपरंपरा के खूनी शिकंजे ढीले किए जा सकें और नारी द्वारा कुछ कर सकने के लिए, अपनी क्षमता का उपयोग कर सकना संभव हो सके। ये पंक्तियाँ इसी प्रयोजन के लिए लिखी जा रही हैं और यह प्रतिपादित किया जा रहा है कि नारी न तो कामिनी है, न नरक में धकेलने वाली, न बंदी बनाकर रखी जाने योग्य दासी। वह मनुष्य जाति की आधी इकाई है—और उसका व्यक्तित्व-वर्चस्व नर के समान ही नहीं, वरन् अधिक उपयोगी भी है। उसे सरल स्वाभाविक स्थिति में जीवनयापन करने की छूट दी जा सके, तो विश्व की वर्तमान विषम परिस्थितियों में, आश्चर्यजनक मोड़ लाया जा सकता है और अंधकार से घिरा दीखने वाला मानवजाति का भविष्य आशा के आलोक से प्रकाशवान् होता हुआ दृष्टिगोचर हो सकता है।

सर्व साधारण को यह समझाया जाना चाहिए कि जिस प्रकार पुरुष, पुरुष मिलकर कुछ काम करें या स्त्रियाँ, स्त्रियाँ मिलकर सहयोग सान्निध्य जगाएँ, तो व्यभिचार-अनाचार की आशंका नहीं की जा सकती, उसी प्रकार नर और नारी मिल-जुलकर रहें, तो उसमें प्रकृतितः कोई जोखिम या कुकल्पना की ऐसी आशंका नहीं है, जिससे भयभीत होकर आधे मनुष्य समाज पर-नारी पर अवांछनीय प्रतिबंध आरोपित किए जाएँ। नर-नारी का प्राकृतिक मिलना उपयोगी, आवश्यक एवं उल्लासपूर्ण है, इसका परिचय हम भरे-पूरे परिवार में, जिसमें सभी वर्ग के नर-नारी अति पवित्रता के साथ रहते हैं, आसानी से प्राप्त कर सकते हैं। घर परिवार में पति-पत्नी के जोड़ों के अतिरिक्त कौन, किसे कुदृष्टि से देखता है या कुचेष्टा करता है। यह स्थिति विश्वपरिवार में भी लाई जा सकती है और सर्वत्र नर-नारी समान रूप से अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए स्नेह-सद्‌भाव का संवर्धन करते हुए, आत्मिक और भौतिक विकास में परस्पर अति महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं। यह स्थिति लाई ही जानी चाहिए, बुलाई ही जानी चाहिए।

अवरोध केवल गर्हित दृष्टिकोण ने प्रस्तुत किया है। इसके लिए अधिक दोषी कलाकार वर्ग है, जिसने समाज के सोचने की दिशा ही अति भ्रमित करके रख दी। नारी को रमणी, कामिनी और वेश्या के रूप में प्रस्तुत करने की कुचेष्टा में, जब कला के सारे साधन झोंक दिए गए, तो जनमानस विकृत क्यों न होता ? चित्रकार जब उसके मर्म-स्थलों को निर्लज्ज-निर्वसना बनाने के लिए, दुःशासन की तरह अड़े बैठे हों, कवि जब वासना भड़काने वाले ही छंद लिखें, गायक जब नख-शिख का उत्तेजक उभार और लंपटता के हाव-भावों भरे क्रियाकलापों को अलापें—साहित्यकार कुत्सा ही कुत्सा सृजन करते चले जाएँ और प्रेस तथा फिल्म जैसे वैज्ञानिक माध्यमों से उन दुष्प्रवृत्तियों को उभारने में पूरा-पूरा योगदान मिले, तो जनमानस को विकृत और भ्रमित कर देना क्या कुछ कठिन हो सकता है ? हमें इस विकृति के मूल स्रोत कला के

अनाचार को रोकना-बदलना होगा। स्नेह और सद्‌भाव की देवी सरस्वती के साथ किया जाने वाला यह बर्बर व्यवहार यदि उलटा जा सकता हो, तो लोकमानस में नारी के प्रति स्वाभाविक सौजन्य फिर पुनः जीवित किया जा सकता है।

रूढ़िवादियों से कहा जाए कि वे दिन में आँखें मलकर न बैठे रहें। विवेक का युग उभरता चला आ रहा है। औचित्य की प्रतिष्ठा करने के लिए, बुद्धिवाद की प्रखरता प्रातःकालीन ऊषा की तरह उदय होती चली आ रही है। उसे रोका न जा सकेगा। कथा-पुराणों की दुहाई देकर-प्रथा परम्परा का पल्ला पकड़कर-अब देर तक वे प्रतिबंध जीवित न रखे जा सकेंगे, जो नारी को व्यभिचारिणी और अविश्वस्त समझकर उसे अगणित बंधनों में जकड़े हुए हैं। विवेक और न्याय की आत्मा तड़प रही है। वह इस बात के लिए मचल रही है कि नारी के साथ बरती जाने वाली बर्बरता का अंत किया जाए। सो वह सब होकर रहेगा। उसे कोई भी अवरोध, देर तक रोक न सकेगा। अगले दिनों निश्चित रूप से नर और नारी परस्पर सहयोगी बनकर स्नेह, सद्‌भाव के साथ स्वाभाविक जीवन जिएँगे और एक-दूसरे को आशंका या यौन-आकर्षण की दृष्टि से न देखकर, पुण्य-सौजन्य के आधार पर निर्माण और निर्वाह के क्षेत्रों में प्रगतिशील कदम बढ़ाते चलेंगे। रूढ़िवाद के लिए उचित यही है कि समय रहते बदलें, अन्यथा समय उनकी अवज्ञा ही नहीं, दुर्गति भी करेगा। उदीयमान सूर्य रुकेगा नहीं। उल्लू, चमगादड़ और वनबिलाव ही चाहें, तो मुँह छिपाकर किसी कोने में विश्राम लेने के लिए अवकाश प्राप्त कर सकते हैं।

इसी प्रकार तथाकथित संत-महात्माओं को कहा जाना चाहिए कि वे अपने मन की संकीर्णता, क्षुद्रता और कलुषिता से डरें। उसे ही भवबंधन मानें। नरक की खान वही है। नारी को उस लांछना से लांछित कर, उस मानवजाति की भर्त्सना न करें, जिसके पेट से वे स्वयं पैदा हुए हैं और जिनका दूध पीकर इतने बड़े हुए हैं। अच्छा हो हमारी जिह्वा पुत्री को न कोसे, भगिनी को लांछित न करे। नारी

नरक की खान हो सकती है, यह कुकल्पना अध्यात्म के किसी आदर्श या सिद्धांत से तालमेल नहीं खाती है। यदि बात वैसी ही होती है, तो अपने इष्टदेव राम, कृष्ण, शिव आदि नारी को पास न आने देते। ऋषि आश्रमों में ऋषिकाएँ न रहतीं। सरस्वती, लक्ष्मी, काली आदि देवियों का मुख देखने से पाप लग गया होता। निरर्थक की डींगें न हाँके तो ही अच्छा है। अंतरात्मा, प्रज्ञा, भक्ति, साधना, मुक्ति, सिद्धि वह सभी स्त्रीलिंग हैं। यदि नारी नरक की खान है और स्त्रीलिंग, तो इन शब्दों के साथ जुड़ी हुई विभूतियों को भी बहिष्कृत किया जाना चाहिए। अच्छा है—अध्यात्मवाद के नाम पर भोंड़ा भ्रम-जंजाल अपने और दूसरों को दिग्भ्रांत करने की अपेक्षा उसे समेटकर अजायबघर की कोठरी में बंद कर दिया जाए।

सर्वसाधरण को इस तथ्य से परिचित कराया जाना ही चाहिए कि नर-नारी का सघन सहयोग यदि पवित्र पृष्ठभूमि पर विकसित किया जाए, तो उससे किसी को कुछ भी हानि पहुँचने वाली नहीं है, वरन् सबका सब प्रकार से लाभ ही होगा। नारी कोई बिजली या आग नहीं है, जिसे छूते ही या देखते ही कोई अनर्थ हो जाए। उसे अलग-अलग रखने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। मनुष्य को मनुष्य के अधिकार मिलने ही चाहिए। विश्व में राजनैतिक स्वतंत्रता की मांग पिछले दिनों बहुत प्रबल होती चली आई और उसने परंपरागत ताज, तख्तों को जड़-मूल से उखाड़कर फेंक दिया है। यह प्रवाह-परिवर्तन राजनीति तक ही सीमित न रहेगा। मनुष्य के समान स्वाधीनता दिलाकर ही, वह गति रुकेगी। गुलामप्रथा का अंत हो गया, अब दास-दासी खरीदे व बेचे नहीं जाते। वर्ग-भेद और रंग-भेद के नाम पर बरती जाने वाली असमानता के विरुद्ध आरंभ हुआ विद्रोह, प्रबल से प्रबलतर होता चला जा रहा है और वह दिन दूर नहीं जबकि मानवीय सम्मान और अधिकार से वंचित कोई भी व्यक्ति नहीं बच रहेगा। जन्म-जाति, वंश, वर्ण, रंग आदि के नाम पर बरती जाने वाली असमानता, अब देर तक जिंदा रहने वाली नहीं है। वह अपनी मौत के दिन गिन रही है। इसी संदर्भ में यह भी

गिरह बाँध लेनी चाहिए कि, नर और नारी के बीच बरता जाने वाला भेदभाव भी उसी अन्याय की परिधि में आता है। नारी की पराधीनता मनुष्य के आधे भाग की, आधी जनसंख्या की पराधीनता है, यह कैसे संभव है कि, वह आगे भी आज की ही तरह बनी रहे। स्वतंत्रता का प्रवाह नारी को भी, इन अनीतिमूलक बंधनों से मुक्ति दिलाकर रहेगा। वह दिन दूर नहीं कि, गाड़ी के दो पहियों की तरह, शरीर की दो भुजाओं की तरह, नर-नारी परस्पर सहयोग करते दिखाई पड़ेंगे। समय का प्रवाह आज नहीं, तो कल इस स्थिति को उत्पन्न करके रहेगा। अच्छा हो, वक्त रहते हम बदल जाएँ। न्याय और विवेक की दिव्यकिरणों के साथ उदय होने वाली इस ऊषा को अभ्यर्थना करके, अपनी सद्भावसंपन्नता का परिचय देने के लिए आगे बढ़ चलें।

नव-निर्माण की प्रक्रिया में इस दिशा में अधिक उत्सुकता इसलिए है कि, भावी विश्व का समग्र नेतृत्व नारी को ही सौपा जाने वाला है। राजसत्ता का उपयोग पिछले दिनों आक्रमण, आतंक, शोषण और युद्धलिप्सा के लिए होता रहा है। पुरुष के नेतृत्व के दुष्परिणाम इतिहास का पन्ना-पन्ना बता रहा है। अब राजसत्ता नारी के हाथ सौंपी जाएगी, ताकि वह अपनी करुणा और मृदुलता के अनुरूप राजसत्ता के अंचल में कराहती हुई मानवता के आँसू पोंछ सके। शिक्षा से लेकर न्याय तक, वाणिज्य से लेकर धर्मधारणा तक हर क्षेत्र का नेतृत्व जब नारी करेगी, तब सचमुच दुनिया तेजी से बदलती चली जाएगी। कला के सारे सूत्र जब नारी के हाथ सौंप दिए जाएँगे, तब उस देवमंच से केवल शालीनता की दिव्य धाराएँ ही प्रवाहित होंगी और उस पुण्य जाह्नवी में स्नान करके जनमानस अपने समस्त कषाय-कल्मष धोकर निर्मल-निष्पाप होता दिखाई देगा।

नर का नेतृत्व मुद्दतों से चला आ रहा है, उसकी करतूत-करामात भली प्रकार देखी-परखी जा चुकी। अच्छा है, वह ससम्मान पीछे हट जाए और पेंशन लेकर कम से कम नेतृत्व की लालसा से

विदा हो ही जाए। करने के लिए बहुत काम पड़े हैं। पुरुष को उनसे रोकता कौन है ? बात केवल नेतृत्व की है। बदलाव का तकाजा है कि ग्रीष्म का आतप बहुत दिन तप लिया। अब वर्षा की शांति और शीतलता की फुहारें झरनी चाहिए। सर्वनाश की जिस विषम विभीषिका में मनुष्य जाति फँसी पड़ी है, उससे परित्राण नेतृत्व बदले बिना संभव नहीं। नारी की करुणा से ही, नर की निरंतर क्रूरता का परिमार्जन हो सकेगा। उसे सशक्त और समर्थ बनाने के लिए, वह सब बौद्धिक प्रक्रिया सजीव करनी पड़ेगी, जो इन पंक्तियों में प्रस्तुत की जा रही है।

नर-नारी के सम्मिलन से खतरा केवल एक ही है कि, यह वर्तमान विकृत वासना का तांडव रोका नहीं गया, तो पाश्चात्य देशों की तरह स्वच्छंदता के वातावरण में बढ़ चला यौनाचार बिखर पड़ेगा और वह भी कम विघातक न होगा। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए, जहाँ नारी स्वातंत्र्य के लिए हमें प्रयत्न करना है, वहाँ यह चेष्टा भी करनी है कि कामुकता की ओर बढ़ती हुई मनोवृत्तियों को परिष्कृत करने में कुछ उठा न रखा जाए। नारी का सौम्य और स्वाभाविक चित्रण, इस संदर्भ में अति महान् है। कला के विद्रूप को कोसने से काम न चलेगा, उसे गंदे हाथों से छीन लेना शासन-सत्ता के लिए संभव है, पर हम लोग जनस्तर पर इस प्रजातंत्र पद्धति के रहते कुछ बड़ा प्रतिरोध नहीं कर सकते। हम यही कर सकते हैं कि, दूसरा कला मंच खड़ा करें और उसके माध्यम से नारी की पवित्रता प्रतिपादित करते हुए लोकमानस की यह मान्यता बनाएँ कि नारी वासना के लिए नहीं, पवित्रता का पुण्य स्फुरण करने के लिए है। कला-मंच यह सब आसानी से कर सकता है। साहित्य का सृजन इसी दशा में हो, कविताएँ ऐसी ही लिखी जाएँ, चित्र इसी प्रयोजन के लिए बनें, गायक यही गाएँ, प्रेस यही छापें, फिल्म यही बनाएँ, तो कोई कारण नहीं कि नारी का स्वाभाविक एवं सरल-सौम्य स्वरूप पुनः जनमानस में प्रतिष्ठापित न किया जा सके। ऐसी दशा में वह जोखिम न रहेगा, जिसे पाश्चात्य लोग भुगत रहे हैं।

उन्होंने नारी स्वतंत्रता तो प्रस्तुत की, पर विकारोन्मूलन के लिए कुछ करना तो दूर, उलटे उसे भड़काने में लग गए और दुष्परिणाम भुगत रहे हैं। हमें यह भूल नहीं करनी चाहिए। हम दृष्टिकोण के परिष्कार के प्रयत्नों को भी नारी स्वातंत्र्य आंदोलन के साथ मोड़कर रखें, तो निश्चय ही वैसी आशंका न रहेगी, जिससे विकृतियाँ भड़क पड़ने का विद्रूप उठकर खड़ा हो जाए।

साथ ही हमें आध्यात्मिक काम-विज्ञान के उन तथ्यों को सामने लाना होगा, जिनके आधार पर यौन संबंध की, काम-क्रीड़ा की उपयोगिता और विभीषिका को समझा जा सके और उसके दुरुपयोग के खतरे से बचने एवं सदुपयोग से लाभान्वित होने के बारे में समुचित ज्ञान सर्वसाधारण को मिल सके।

✰ प्रकृति की प्रेरणा सदाचार भरी आत्मीयता

आजकल पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यता से प्रभावित लोग यौन सदाचार का पालन करते हिचकिचाते हैं और तर्क प्रस्तुत करते हैं कि, मनुष्य ने प्रकृति से प्रेरणाएँ ली हैं। प्रकृति में, पशुओं में, कामाचार की कोई मर्यादाएँ नहीं रहती, अतएव मनुष्य भी यदि उनका पालन नहीं करे, तो कुछ हर्ज नहीं। वस्तुतः ऐसा कहने वालों ने प्रकृति का गहराई तक अध्ययन नहीं किया, थोड़े-से तुच्छ और नगण्य किस्म की मक्खियों, मच्छरों, कुत्ते, बिल्लियों की बात अलग है, अन्यथा सृष्टि में जितने भी शक्तिशाली और प्रसन्नताप्रिय जीव हैं, उन सबके दांपत्यजीवन बहुत ही आत्मीयता, घनिष्ठता और सदाचार पूर्ण होते हैं।

अन्य प्राणियों में काम-वासना का उपयोग, मात्र वंशवृद्धि के लिए ही होता है। इतना ही नहीं, वे वंशवृद्धि के बाद के अपने उत्तरदायित्वों को भी समझते हैं और इसके बाद उन्हें निभाने के लिए पहले से ही व्यवस्था करने लगते हैं। जीव-जगत् के कुछ उदाहरणों से यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है।

'स्टिकल-बैक' नाम की एक मछली होती है, जो समुद्र में ही पाई जाती है। प्रसिद्ध जीव विज्ञानी डॉ० लार्ड ने इस मछली की विभिन्न आदतों और क्रियाओं का बहुत सूक्ष्मता से अध्ययन किया। बैंकोवर आयरलैंड में महीनों रहकर आपने, इस मछली की जीवन पद्धति का अध्ययन किया और बताया कि, मनुष्य चाहे तो इससे अपने पारिवारिक जीवन को सुखी और सुदृढ़ बनाने की महत्त्वपूर्ण शिक्षाएँ ले सकता है।

नर स्टिकल बैक अपना घर बसाने के लिए बहुत पहले से तैयारी प्रारंभ कर देता है। सबसे पहले सारे समुद्र में घूम-घूमकर वह कोई ऐसा स्थान ढूँढ़ निकालता है, जहाँ पर पानी न बहुत तेजी से बह रहा हो, न बहुत धीरे। जगह शांत हो, वहाँ हर किसी का पहुँचना भी संभव न हो।

प्राचीनकाल की जीवन-प्रणाली और शिक्षापद्धति पर दृष्टि दौड़ाकर देखते हैं, तो पता चलता है कि तत्कालीन ऋषियों-मुनियों एवं सामाजिक मार्गदर्शक आचार्यों ने भी भलीभाँति अनुभव किया था कि, दांपत्य और गृहस्थ जीवन एक महत्त्वपूर्ण योगसाधना है, उसके लिए आवश्यक तैयारियाँ न की जाएँ, तो लोगों के वैयक्तिक जीवन ही नहीं, पारिवारिक और सामाजिक व्यवस्थाएँ भी लड़खड़ा सकती हैं। जीवन के प्रथम २५ वर्ष ब्रह्मचर्यपूर्वक रहकर विद्याध्ययन करने और पाठ्यक्रम में धार्मिक, आध्यात्मिक, नैतिक, सांकृतिक विषयों के समावेश के पीछे, एकमात्र उद्देश्य और रहस्य यही था कि आने वाले जीवन और जिम्मेदारियों को वहन करने के लिए शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, चारित्रिक त्रुटि न रह जाए। पूर्ण तैयारी कर लेने के फलस्वरूप ही उन दिनों के दांपत्यजीवन, पारिवारिक और सामाजिक संगठन, प्रेम, मैत्री, करुणा, दया, क्षमा, उदारता आदि सुख-संतोष और स्वर्गीय परिस्थितियों से भरेपूरे रहते थे। आनंद छलकता था उन दिनों, पर आज जब कि शिक्षा के ढंग-ढाँचे में, हमारी रीति-नीति और जीवन पद्धति में उस तैयारी

के लिए स्थान नहीं रहा, तो हमारा पारिवारिक जीवन भी असंतोष और अस्तव्यस्तता का पर्याय बनकर रह गया है।

मनुष्य भूलकर सकता है पर, सृष्टि के सैकड़ों जीव-जंतुओं की तरह स्टिकल बैक मछली यह भूल कभी नहीं करती। जैसे उसे प्रकृति से यह प्रेरणा मिली हो कि, वह अपनी जीवन पद्धति द्वारा मनुष्य को सिखाए और समझाए कि जो आनंद पहले से तैयारी किए हुए दांपत्यजीवन में है, वह चाहे जैसे गृहस्थ बसा लेने में नहीं है। यह सारा उत्तरदायित्व पति का है कि वह समुचित व्यवस्थाएँ स्वयं जुटाए। अपनी तैयारी में कोई त्रुटि न हो, तो पत्नियों की ओर से पूर्ण सहयोग और समर्थन न मिले, ऐसा कभी हो ही नहीं सकता। इस मछली की तरह तैयार किए हुए नर-दांपत्य जीवन का ऐसा आनंद पाते हैं कि उन्हें न तो स्वर्ग की कल्पना होती है और न मुक्ति की ही। वे इसी जीवन में, स्वर्ग-सौभाग्य प्राप्त करते हैं।

तत्परतापूर्वक ढूँढ़-खोज के बाद जब उपयुक्त स्थान मिल जाता है, तब स्टिकल बैक पत्नी के लिए सुंदर घर बनाने की तैयारी करता है। इसके लिए उस बेचारे को कितना परिश्रम करना पड़ता है, यह बात अपने माता-पिता की पीठ पर चढ़े, विवाह की कामना करने वाले युवक भला क्या समझेंगे ? स्टिकल बैक पानी में तैरती हुई, छोटे-छोटे पौधों की नरम-नरम लकड़ियाँ, तैरते हुए पौधों की जड़ इकट्ठी करता है और उन्हें चुने हुए स्थान पर ले जाता है। विवाह के शौकीन स्टिकल को पहले खूब परिश्रम और मजदूरी करनी पड़ती है। अपने शरीर से वह एक प्रकार का लसलसा पदार्थ निकलता है और एकत्रित सारी वस्तुओं को, उसी में चिपका लेता है, ताकि उसका इतना परिश्रम व्यर्थ न चला जाए। उसने जो लकड़ियाँ एकत्रित की हैं, वह अपने स्थान तक पहुँच जाएँ।

स्टिकल बैक पूरे आत्मविश्वास के साथ काम करता है। एकत्रित सामान मजबूती से चिपक गया है, इसका विश्वास करने के लिए वह अपने शरीर को फड़फड़ाता हुआ, नाचता है, जैसे उसे

परिश्रम में आनंद लेने की आदत हो। जब एक बार विश्वास हो गया कि, सामान गिरेगा नहीं, तब आगे बढ़ता है और पूर्व निर्धारित स्थान पर इस सामान से मकान बनाता है। शरीर का लसलसा पदार्थ, यहाँ सीमेंट का काम करता है और लाई हुई लकड़ियाँ ईंट-पत्थरों का। आगंतुक वधू के लिए महल बनाकर एक बार वह उसे घूम-घूमकर देखता है। लगता है, अभी वैभव में कुछ कमी रह गई। फिर वह रेत के बारीक टुकड़े मुख में भरकर लाता है और मकान के फर्श पर बिछाता है। कोठरी में कहीं टूट-फूट की गुंजाइश हो, तो उसे ठीक करता है। सारा मकान सुसज्जित हो जाने के बाद ही उसे संतोष होता है। जब सारी तैयारियाँ पूर्ण हो जाती हैं, तब वह स्वयं मादा की खोज में निकलता है। उसे दहेज और लेन-देन की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह जानता है, नारी-नर की अपनी आवश्यकता भी है, इसलिए प्रिय वस्तु को भरपूर स्वागत और सम्मान अपनी ओर से ही क्यों न दिया जाए। वह मनुष्यों की तरह का दंभ और पाखंड प्रदर्शित नहीं करता।

उपयुक्त पत्नी मिल जाने पर, वह उसे घर लाता है। पत्नी कुछ दिन में गर्भावस्था में आती है, तब वह उसे घूमने को भेजता रहता है, घर और अंडों की देखभाल तब वह स्वयं ही करता है। यह उनके भोजन आदि का प्रबंध ही नहीं करता, वरन् सुरक्षा के लिए दरवाजे पर कड़ा पहरा भी रखता है। मि० फ्रैंक बकलैंड ने इसकी कर्मठता का वर्णन करते हुए लिखा है कि, मकान में थोड़ी-सी भी गड़बड़ी हो, तो यह उसे तुरंत ठीक करता है।

स्टिकल बैक अपने बच्चों और पत्नी के पालन का उत्तरदायित्व पूरी सूझ-समझ के साथ निभाता है। वह इन्हें परदे में नहीं रखता। पर्याप्त ऑक्सीजन मिलती रहे, इसके लिए वह अपने मकान में दो दरवाजे रखता है। इससे वहाँ के पानी में बहाव बना रहता है और ताजी ऑक्सीजन मिलती रहती है, यदि बहाव रुक जाए, तो वह तुरंत शरीर फड़-फड़ाकर बहाव पैदा कर देता है, जिससे रुके हुए पानी की गंदगी प्रभावित न कर पाए।

स्टिकल बैक का जीवन कितना कलात्मक और सुरुचिपूर्ण है। इधर बच्चे निकलने लगे, उधर उसने मकान के ऊपरी भाग छत को अलग करके, एक बढ़िया झूला तैयार किया। मनुष्यों की तरह गुमसुम का जीवन उसे पसंद नहीं। झूला बनाकर उसमें बच्चों को भी झुलाता है और पत्नी को भी। स्वयं उस क्षेत्र में परेड करता रहता है, जिससे उसके आनंद और खुशहाली की अभिव्यक्ति होती है, पर दूसरे दुश्मन डरकर भाग जाते हैं, जैसे कलाप्रिय और सुरुचिपूर्ण सद्गृहस्थ से अवगुण दूर रहने से, अशांति पास नहीं आती। बच्चे झूला छोड़कर इधर-उधर भागते हैं, तो वह उन्हें बार-बार झूले में डाल देता है, जब तक बच्चे स्वयं समर्थ न हो जाएँ, वह उन्हें आवारागर्दी और कुसंगति में नहीं बैठने देता। अपनी रक्षा करने में जब वे समर्थ हो जाते हैं, तभी उन्हें जाने और नया संसार बनाने की अनुमति देता है।

स्टिकल बैक की तरह मनुष्य का पारिवारिक जीवन की भी तैयारी, उद्‌देश्य और सुरुचिपूर्ण होता। पतिव्रत ही नहीं, पत्नीव्रत का ध्यान रखा गया होता, तो सामाजिक जीवन हँसता-खिलखिलाता हुआ होता।

शेरनी १०८ दिन में प्रसव करती है। इसके बाद वह प्रथम २ वर्ष तक, जब तक कि बच्चे बड़े न हो जाएँ और समर्थ न बन जाएँ, उन्हीं के पोषण व प्रशिक्षण में व्यस्त रहती है। सहवास की इच्छा होने पर भी वह उसे टालती रहती है और बच्चों के बड़े हो जाने पर ही पुनः गर्भधारण करती है। इस तरह के उदाहरण से भावनाओं की गंभीरता का पता चलता है। इसके विपरीत आचरण स्वभाव का हल्कापन है। भावनाओं का अर्थ केवल मात्र झुकना नहीं, अपितु अपनी समीक्षा बुद्धि को जाग्रत् रखते हुए, जो पवित्र रसास्वादन मर्यादाजन्य है, उसे पूरा करने में अपनी संपूर्ण निष्ठा का परिचय देना है।

कीवी, शुतुर्मुर्ग और पेंगुइन आदि पक्षियों के विस्तृत अध्ययन करने के बाद, चार्ल्स डारविन ने लिखा है—इन पक्षियों का गृहस्थ

और पारिवारिक जीवन बड़ा संतुलित, समर्पित और चुस्त होता है। नर-मादा आपस में ही नहीं, बच्चों के लालन-पालन में भी बड़ी सतर्कता, स्नेह और बुद्धिकौशल से काम लेते हैं। मनुष्यजाति की तरह इनमें भी, परिवार के पालन-पोषण का अधिकांश उत्तरदायित्व नर पर रहता है। मादा से शरीर में छोटा होने पर भी घोंसला बनाना, अंडे सेना और जिन दिनों मादा अंडे से रही हो उन दिनों उसके आहार की व्यवस्था करना, सद्यः प्रसूत बच्चों को सँभालने से लेकर—उन्हें उड़ना सिखाकर, एक स्वतंत्र कुटुंब बसाकर रहने की प्रेरणा देने तक का अधिकांश कार्य नर ही करता है। वह अपने परिवार की दुश्मनों से रक्षा भी करता है।

गृहस्थी बसाने में संभवतः मनुष्य को, इतनी आपा-धापी नहीं करनी पड़ती होगी, जितनी बेचारे पेंगुइन पक्षी को। इसके लिए वह दो महीने सितंबर और फरवरी में दक्षिणी ध्रुव की यात्रा करता है। पेंगुइन जानते हैं कि अपने मार्गदर्शक के अनुशासन में रहना कितना लाभदायक होता है ? उसके अनुभवों का पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिए पेंगुइन अपने मुखिया के चरण चिह्नों पर ही चलता है।

ध्रुवों पर पहुँचने के बाद, पुराने पेंगुइन तो अपने पहले वर्षों के छोड़े हुए घरों में आकर रहने लगते हैं, किंतु नव-युवक पेंगुइन अपने माता-पिता की आज्ञा लेकर नया परिवार बसाने के लिए चल देता है। उसकी सबसे पहली आवश्यकता, एक योग्य पत्नी की होती है। वह ऐसी किसी मादा को ढूँढ़ता है, जिसका विवाह न हुआ हो। अपनी विचित्र भावभंगिमा और भाषा में वह मादा से संबंध माँमंता है। मनुष्य ही है, जो जीवन-साथी का चुनाव करते समय गुणों का ध्यान न देकर केवल धन और रूप-लावण्य को अधिक महत्त्व देता है, पर पेंगुइन यह देखता है कि, उसका जीवन-साथी क्या उसे सुदृढ़ साहचर्य प्रदान कर सकता है?

संबंध की याचना वह स्वयं करता है। ऐसे नहीं, उसे मालूम है कि जीवन में धर्मपत्नी का महत्त्व है, इसलिए पत्नी को खुश

करके संबंध की याचना करता है। पत्नी की प्रसन्नता भी सुंदर, चिकने पत्थर होते हैं। सो नर उसे चोंच, में दबाकर, एक सुंदर-सा कंकड़ लेकर मादा के पास जाता है। मादा कंकड़ देखकर उसके गुणी, पुरुषार्थी एवं श्रमजीवी होने का पता लगाती है। यदि उसे नर पसंद आ गया, तो वह अपनी स्वीकृति दे देगी अन्यथा चोंच मारकर उसे भगा देगी। चोट खाया हुए नर एक बार पुनः प्रयत्न करता है, थोड़ी दूर पर उदास-सा बैठकर इस बात की प्रतीक्षा करता है कि—संभव है मादा तरस खाए और स्वीकृति दे दे, यदि मादा ने ठीक न समझा, तो नर बेचारा कहीं और जाकर संबंध ढूँढ़ने लगता है।

मादा की स्वीकृति मिल जाए, तो पेंगुइन की प्रसन्नता देखते ही बनती है। नाच-नाचकर आसमान सिर पर उठा लेता है। मादा को पता होता है। गृहस्थ परिश्रम से चलते हैं, इसलिए वह नर को संकेत देकर घर बनाने में जुट जाती है। नर तब दूर-दूर तक जाकर, कंकड़ ढूँढ़कर लाता है। मादा महल बनाती है। इस समय बेचारा नर डाँट-फटकार भी खाता है, पर उसे यह पता है कि, पत्नी के स्नेह और सद्भाव के सुख के आगे मीठी फटकार का कोई मूल्य नहीं। दोनों मकान बना लेते हैं, तब फिर स्नान के लिए निकलते और जल की निर्मल लहरों में देर तक स्नान करते हैं। स्नान करके लौटने पर कई बार उनके बने-बनाए मकान पर कोई अन्य पेंगुइन अधिकार जमा लेता है। दोनों पक्षों में युद्ध होता है। जो विजयी होता है, वही उस मकान में रहता है, पर युद्ध के बाद भी स्नान करने जाना आवश्यक है। इस बार वे पहले जैसी भूल नहीं करते। बारी-बारी से स्नान करने जाते हैं और लौटकर फिर गृहस्थ कार्य में संलग्न होते हैं। मादा अंडे देती है, पर बच्चों की पालन प्रक्रिया नर ही पूर्ण करते हैं। पेंगुइन की इस तरह की घटनाएँ देखकर मनुष्य की उससे तुलना करने को जी करता है। मनुष्य भी उनकी तरह लूट-पाट और स्वार्थपूर्ण प्रवंचना में कितना अशांत और संघर्षरत रहता है. पर वह सुखी गृहस्थ के कुछ लक्षण

भी इन पक्षियों से नहीं सीख सकता और परस्पर घर में ही लड़ता-झगड़ता रहता है। पेंगुइन-सी सहिष्णुता भी उसमें नहीं है।

कछुए को नृत्य करते देखने की बात तो दूर की है, किसी ने उसे तेज चाल से चलते हुए भी नहीं देखा होगा, पर दांपत्य जीवन में आबद्ध होते समय उसकी प्रसन्नता और थिरकन देखते ही बनती है। कछुआ जल में तेजी से नृत्य भी करता है और तरह-तरह के ऐसे हाव-भाव भी, जिन्हें देखकर मादा भी भाव-विभोर हो उठती है। यही स्थिति है मगरमच्छ की। मगर भी प्रणय वेला में विलक्षण नृत्य करता है।

कई बार तो अश्लीलता में मनुष्य, सामाजिक मर्यादाओं का भी उल्लंघन कर जाता है, किंतु इन पक्षियों और प्राणियों ने अपने लिए जो विधान बना लिया होता हैं, उससे जरा भी विचलित नहीं होते। चींटी राजवंशी जंतु है। उसमें रानी सर्वप्रभुतासंपन्न होती है, वही अंडे देती है और बच्चे पैदा करती है। अपने लिए मधुमक्खी की तरह वह एक ही नर का चुनाव करती है; शेष चींटियाँ मजदूरी, चौकीदारी और मेहतर आदि का काम करती हैं। अपनी जिम्मेदारी प्रत्येक चींटी इस ईमानदारी से पूरी करती है कि किसी दूसरी को रत्ती भर भी शिकायत करने का अवसर न मिले; जबकि उन बेचारियों को अपने हिस्से से, एक कण भी अधिक नहीं मिलता। लगता है सामाजिक व्यवस्था में ईमानदारी का, श्रम और निष्ठा का यह आदर्श मनुष्य ने चींटी से सीख लिया होता, तो वह आज की अपेक्षा कहीं अधिक सुखी और संतुष्ट रह रहा होता, पर यहाँ तो अपने स्वार्थ, अपनी गरज के लिए मनुष्य अपने भाई-भतीजों को भी नहीं छोड़ता। कम तौलकर, मिलावट करके, कम परिश्रम में अधिक सुख की इच्छा करने वाला मनुष्य, इन चींटियों से भी गया गुजरा लगता है।

एक बार अफ्रीका में वन्यपशु खोजियों का एक दल, हाथियों की सामाजिकता का अध्ययन करने आया। संयोग से उन्हें एक ऐसा सुरक्षित स्थान मिल गया, जहाँ से वे बड़ी आसानी से हाथियों

के करतब देख सकते थे। एक दिन उन्होंने देखा हाथियों का एक झुंड संवेरे से ही विलक्षण व्यूह की रचना कर रहा है। कई मस्त हाथियों ने घेरा डाल रखा है। झुंड में जो सबसे मोटा और बलवान् हाथी था, वहीं चारों तरफ आ-जा सकता था, शेष सब अपने-अपने पहरे पर तैनात थे। लगता था, वह बड़ा हाथी उन सबका पितामह या मुखिया था। उसी के इशारे पर सब व्यवस्था चल रही थी और एक मनुष्य है, जो थोड़ा ज्ञान पा जाने पर, प्रभुतासंपन्न हो जाने पर, भाई-भतीजे की कौन कहे, परिवार के अत्यंत संवेदनशील और उपयोगी अंग बाबा, दादी, माता-पिता को भी अकेला या दीनहीन स्थिति में छोड़कर चल देता है।

मुखिया के आदेश से ५-६ हथिनियाँ उस घेरे में दाखिल हुईं, बीच में गर्भवती हथिनी लेटी थी। संभवतः उसकी प्रसव पीड़ा देखकर ही, हमलावरों से रक्षा के लिए हाथियों ने यह व्यूह रचना की थी। परस्पर प्रेम, आत्मीयता और निष्ठा का यह दृश्य सचमुच मनुष्य को लाभदायक प्रेरणाएँ दे सकता है, यदि मनुष्य स्वयं भी उनका परिपालन कर सकता होता।

बच्चा हुआ, कुछ हथिनियों ने जच्चा को सँभाला, कुछ ने बच्चे को। ढाई-तीन घंटे तक जब तक प्रसव होने के बाद से बच्चा धीरे-धीरे चलने न लगा, हाथी उसी सुरक्षा स्थिति में खड़े रहे। हथिनियाँ दाई का काम करती रहीं। बच्चे और मादा के शरीर की सफाई से लेकर उन्हें खाना खिलाने तक का सारा काम कितने सहयोग और समुचित ढंग से हाथी करते हैं। यह मनुष्य को देखने, सोचने, समझने और अपने जीवन में भी धारण करने के लिए अनुकरणीय है।

पेंगुइन पक्षी बच्चों पर कठोर नियंत्रण रखते हैं। बड़े-बूढ़ों के नियंत्रण के कारण बच्चे थोड़ा भी इधर-उधर नहीं जा सकते। जब शरीर और दुनियादारी में वे चुस्त और योग्य हो जाते हैं, तो फिर स्वच्छंद विचरण की आज्ञा भी मिल जाती है, जबकि मनुष्य ने बच्चे पैदा करना तो सीखा, पर उनमें से आधे भी ऐसे नहीं होते जो

संतान के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह इतनी कड़ाई से करते हों। अधिकांश तो यह समझना भी नहीं चाहते कि, बच्चों को किस तरह योग्य नागरिक बनाया जाता है ?

थोड़ी भी परेशानी आए तो मनुष्य अपने उत्तरदायित्वों से कतराने लगता है, किंतु अन्य जीव अपने गृहस्थ कर्तव्यों का पालन कितनी निष्ठा के साथ करते हैं—यह देखना हो, तो अफ्रीका चलना चाहिए। यहाँ कीवी नाम का एक पक्षी पाया जाता है। कामाचार को वह अत्यंत सावधानी से बरतता है, ताकि उसे कोई देख न ले। काम संबंधी मर्यादाओं को ढीला छोड़ने का ही प्रतिफल है कि, आज सामाजिक जीवन् में अश्लीलता और फूहड़पन का सर्वत्र जोर है। कीवी को यह बात ज्ञात है और वह अपने वंश को सदैव सदाचारी देखना चाहता है, इसीलिए सहवास भी वह बिल्कुल एकांत में और उस विश्वास के साथ करता है कि वहाँ उसे कोई देखेगा नहीं। मादा जब अंडे देने लगती है, तो नर उनकी रक्षा करता है और सेता भी है। उसे लगातार ८० दिन तक अंडे की देखभाल करनी होती है। बच्चा पैदा होने के साथ वह जहाँ पुत्रवान् होने पर गर्व अनुभव करता है, वहाँ यह प्रसन्नता भी कि, अब उसे विश्राम मिलेगा, पर होता यह है कि इस बीच मादा ने दूसरा अंडा रख दिया होता है। बेचारे नर को फिर ८० दिन का अनुष्ठान करना पड़ जाता है। इस तरह वह कई-कई पुरश्चरण एक ही क्रम में पूरा करके, अपनी निष्ठा का परिचय देता है। मनुष्य क्या इतना नैतिक हो सकता है ? इस पर विचार करें, तो उत्तर निराशाजनक होगा।

☆ वासना का दुष्परिणाम

प्राणिजगत् में जहाँ एक ओर यौन सदाचार, अधिकाधिक ब्रह्मचर्य और पारिवारिक जीवन में स्नेह भरी घनिष्ठता के दर्शन होते हैं, वहीं काम का वह विद्रूप भी स्पष्ट दिखाई दे जाता है, जो नारी को कामिनी और रमणी रूप में देखने के कारण मनुष्यजाति

को भुगतना पड़ता है। संयम और दांपत्य जीवन की मर्यादाओं का उल्लंघन करने वाले जीवों का जीवनकाल इतना त्रासदायक पाया गया है कि, उसे देखकर रोएँ खड़े हो जाते हैं। कम से कम मनुष्य जैसे विचारशील प्राणी को वैसी स्थिति नहीं आने देनी चाहिए।

प्रजनन ऋतु आने पर नर-सील मादाओं के लिए लड़ने लगते हैं। एक सशक्त नर-सील ४०-५० तक मादाओं का मालिक होता है। पर उसकी विक्षुब्ध वासना अपरिमित होती है। नई मादाएँ देखकर वह मचल उठता है तथा पड़ौसी सील-समूह पर आक्रमण कर बैठता है, उस समूह के नर से उसे प्रचंड संघर्ष करना पड़ता है। मान लें, वह संघर्ष में विजयी हो जाता है और अपनी पसंद की मादा को लेकर थका, आहत, गर्वोद्धत अपने समूह में लौटता है, तो उसे प्रायः यही दृश्य दीखेगा कि उसके समूह की एक या दो-चार मादाएँ कोई दूसरा नर-सील खींचे लिए जा रहा है। अब या तो मन मारकर अपहरण का यह आघात झेलें अथवा उसी थकी माँदी दशा में द्वंद्व युद्ध के लिए ललकारे और तब परिणाम पता नहीं क्या हो ?

इस प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप अधिकांश नर-सील तीन माह की यह प्रजनन-ऋतु बीतने तक श्लथ, क्षतविक्षत हो चुकते हैं और आहार जुटा पाने योग्य शक्ति भी उनमें शेष नहीं रहती। इसका कारण मादा के प्रति नर-पशु की निरंतर यौन-जागरूकता की प्रवृत्ति है। इससे विपरीत सामूहिक सहजीवन की प्रवृत्ति वाले पशुओं में तो मादा के प्रति कोई अनावश्यक आकर्षण नर रखते ही नहीं। मात्र प्रजनन-ऋतु में ही मादा विशेष के प्रति आकर्षित होते हैं, शेष समय में मानो लिंगातीत साहचर्य की स्थिति में रहते हैं।

हाथी की शक्ति एवं बुद्धिमत्ता सर्वविदित है। किंतु कामाचार की इस विषमतावादी प्रवृत्ति के कारण हाथियों के मुखिया को भी अपनी शक्ति व समय का अधिकांश भाग अनावश्यक संघर्षों में खर्च करना होता है।

हाथी समूह में रहते हैं। समूह-नायक ही अपने समूह की सभी हथिनियों का स्वामी होता है। समूह के अन्य किसी सदस्य द्वारा, किसी भी हथिनी से तनिक-सी भी कामचेष्टा या प्रेम-प्रदर्शन करने पर, मुखिया यह देखते ही उस पर आक्रमण कर या तो भगा देता है या परास्त कर प्रताड़ित, अपमानित करता है।

कोई युवा, शक्तिशाली हाथी कभी भी ऐसी उद्धत चेष्टा कर मुखिया को उत्तेजित कर देता है और युद्ध में यदि परास्त कर देता है, तो फिर वही सभी हथिनियों का स्वामी तथा टोलीनायक बनता है। पराजित नायक बहुधा विक्षिप्त हो जाता है और खतरनाक भी हो उठता है।

"मरण बिंदुपातेन जीवन बिंदु धारणम्" सूत्र में कामुकता के अमर्यादित चरणों को मरण का प्रतीक माना गया है, उसमें सर्वनाश ही सन्निहित है। यह विचार सर्वथा असत्य है कि अति कामुकता बरतने वालों से उनकी सहधर्मिणी प्रभावित होती हैं, वरन् सच तो यह है कि वह उलटी घृणा करने लगती हैं। ऐसी घृणा जहाँ पनपेगी वहाँ सद्भाव कहाँ रहेगा ? जब मादा देखती है कि नर अपनी तृप्ति के लिए उसके शरीर का अनावश्यक दुरुपयोग किए जा रहा है, तो वह पति-भक्ति अपनाने के स्थान पर उलटे आक्रमण कर बैठती है। ऐसे आक्रमणों से नर की दुर्गति ही होती है और 'मरण बिंदुपातेन' सूत्र के अनुसार उद्धत कामविकार, मृत्यु का दूत बनकर सामने आ खड़ा होता है।

नर-बिच्छू अपनी प्रेयसी के साथ-साथ नृत्य करता है—घंटों। कभी तेजी से दोनों आगे बढ़ते हैं, कभी पीछे हटते हैं। थककर शिथिल होने पर, दोनों साथ-साथ ही विश्राम करते हैं। लेकिन मादा बिच्छू कई बार उत्तेजना में नर को खा भी जाती है।

'फ्राग-फिश' का यौनाचरण भी ऐसा ही प्राणांतक है। मादा फ्राग-फिश घूमती रहती है, श्रीमान् नर अधिकांश पुरुषों की ही तरह लंपट और अधीर होते हैं। मादा के पास पहुँचते ही वे उत्तेजित हो उठते हैं, जबकि मादा को ऐसा कुछ भी नहीं होता।

उत्तेजित नर मादा के मादक दिख रहे शरीर-मांस में तेजी से दाँत गड़ाता है। बस, फिर यह दाँत गड़ा ही रह जाता है, क्योंकि उस मांस से यह दाँत कभी निकल नहीं पाता। किसी तरह केलि करते हैं। नशा उतर जाने के बाद, दाँत छुड़ाने की पूरी कोशिश करते हैं—बार-बार, पर विफल मनोरथ ही रहते हैं। खाना-पीना बंद। कितने दिन जीएँगे ? अंत में दम टूट जाता है।

बिल्लियों का गंभीर रुदन, उनकी शारीरिक पीड़ा का नहीं, वरन् उत्तेजित मनोव्यथा का परिचालक होता है। बंदरों की कर्ण-कटु किलकारियों में भी यह आभास होता है कि उनके भीतर कुछ असाधारण हलचल हो रही है।

साही का प्रणयकाल, उसके उछलने-कूदने की व्यस्तता से जाना जा सकता है, उन दिनों वह खाना, पीना, सोना तक भूल जाती है और बावली-सी होकर लकड़ी के टुकड़ों को मुँह में लेकर उन्हें उछालती हुई ऐसी दौड़ती है, मानो उसे फुटबाल मैच में व्यस्त रहना पड़ रहा हो।

सर्प की प्रणयकेलि उनकी आलिंगन आबद्धता के रूप में दीख जाती है, उन क्षणों वह अत्यंत भावुक और आवेशग्रस्त होता है। सर्प नहीं चाहता कि इस एकांत सेवन में कोई भागीदार हस्तक्षेप करे। यदि उसे पता चल जाए कि कोई लुक-छिपकर उसे देख रहा है, तो सर्प क्रोधवंत होकर प्राणघातक आक्रमण कर बैठता है।

कितने ही नरपशु इस आवेग में ग्रसित होकर, एक-दूसरे के प्राणघातक बन जाते हैं। उस आवेश में वे, अपने प्राण तक गँवा बैठते हैं।

हिरनों में ऋतुकाल स्वयंवर के लिए, मल्लयुद्ध का रूप धारण करता है। इससे उनके सींग टूटते हैं, घाव लगते हैं और कई बार तो वे प्राण तक गँवाते हैं और पराजित से संबंध तोड़ने और विजयी की अनुचरी बनने के लिए, बिना किसी खेद से हिरनी सहज स्वभाव प्रस्तुत रहती हैं। यही दुर्गति, अगणित पशुओं की

होती है। उनमें से आधे तो प्रायः इसी कुचक्र में क्षत-विक्षत होकर मरते हैं।

केवल नर ही इस स्वयंवर युद्ध में लड़-लड़कर कष्ट उठाते हों, सो बात नहीं। कई बार तो मादाएँ भी नरों की अविवेकहीनता के लिए, उन्हें भरपूर दंड देतीं और नाच नचाती हैं।

नर गरुड़ को प्रणयकेलि की तभी स्वीकृति मिलती है, जब वह मल्लयुद्ध में अपनी प्रेयसी को परास्त करने में समर्थ हो जाता है। ऋतुमती गरुड़ मादा नर को आमंत्रण तो देती है, पर साथ ही वह चुनौती भी प्रस्तुत करती है कि यदि वह पिता बनने योग्य है, तो ही उस पद की लालसा करे। समर्थता को परखने के लिए मादा मल्लयुद्ध करती है और इस भयानक संघर्ष में नर के पंख नुच जाते हैं, घायल होने पर खून से लथपथ हो जाता है, इतने पर भी यदि वह मैदान छोड़कर भाग खड़ा न हो, तो ही उसके गले में स्वयंवर की माला पहनाई जाती है। तब न केवल विवाह होता है, वरन् नर के घर-परिवार के साथ जुड़े हुए उत्तरदायित्वों को सँभालने में, मादा की भरपूर मदद करने के लिए भी तत्पर होना पड़ता है।

सन् १९५० की बात है। कुछ वैज्ञानिकों ने एंजिलर मछली के बारे में विस्तृत खोज प्रारंभ की। मध्य-सागर में रहने वाली इस एंजिलर के बारे में अब तक लोगों को वैसे ही स्वल्प-सी जानकारी थी, जैसे शरीरस्थ अनेक चक्रों, ग्रंथियों, गुच्छकों एवं उपत्यिकाओं के संबंध में वैज्ञानिकों को थोड़ी-सी जानकारी प्राप्त है।

अध्ययन के लिए जितनी भी एंजिलर पकड़ी गईं, नर उनमें से एक भी न निकला। एक दिन एक मछली विशेषज्ञ ने निश्चय किया कि एक मछली के अंग-प्रत्यंगों की जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। विशेष और महत्त्वपूर्ण जानकारी तब मिली, जब इन विशेषज्ञ महोदय ने देखा एंजिलर मादा के सिर पर, सीधी आँख पर एक बहुत ही छोटा-सा मछली जैसा जीव चिपका हुआ है। इस जीव का अध्ययन करने से पता चला, यही वह सज्जन हैं, जिनकी

वैज्ञानिकों को तलाश थी। नर एंजिलर, यही था। बेचारी मादा के सिर पर चिपककर उसी के रक्त को चूसने वाला।

मादा का आकार ४० इंच, भगवान् ने अच्छा किया कि पतिदेव को कुल चार इंच का बनाकर यह दिखाया कि नारी को मात्र प्रजनन और शोषण की सामग्री बनाने वालों का बौना होना ही ठीक है। मनुष्य के इतिहास में भी यही पाया जाता है। संसार के जो भी देश आज प्रगति के शिखर पर पहुँचे हैं, उन सबमें नारी के उत्थान के लिए बड़े कदम उठाये गए हैं। हम भारतवासी हैं, जिन्होंने नारी को दासी, परदे में रहने वाली और शिक्षा-शून्य बनाया, उसका रमणी के रूप में उपभोग किया। तभी तो प्रगति में एंजिलर नर की तरह बौने के बौने रह गए।

हम में यह दोष कहाँ से आया, इसका उत्तर भी एंजिलर मछली के अध्ययन करने वाले वैज्ञानिकों ने दिया। उन्होंने नर के स्वभाव का अध्ययन करके बताया कि उसकी यह शोषणप्रियता उसकी आलसी और वासनापूर्ण प्रकृति के कारण है। जीवन में मधुरता के लिए कोई स्थान न होने के कारण, वह अपनी ही पत्नी का खून पिया करता है।

देखने में एंजिलर नर पापी और अपराधी कहा जा सकता है, पर जिन लोगों ने नारी का मूल्यांकन वासना के रूप में, दासी और संपत्ति के रूप में किया, उन्हें क्या माना और क्या कहा जाए ? इसका निर्णय तो हमें अपने भीतर मुख डालकर करना पड़ेगा।

कामुकता का बाह्य स्वरूप कितना ही आकर्षण क्यों न हो, उसके कलेवर में विष और विनाश के अतिरिक्त कुछ नहीं। अफ्रीका में एक बहुत सुंदर फूल पाया जाता है। पक्षी इन फूलों पर आसक्त होकर, उन पर जा बैठते हैं, बैठते ही फूल धीरे-धीरे सिकुड़ना प्रारंभ कर देता है और फिर उसे इस तरह जकड़कर अपने पैने काँटे चुभो देता है कि लगातार प्रयत्न करने पर भी वह निकल नहीं पाता, खून पूरी तरह चूस लेने के बाद ही, पौधा उसे

छोड़ता है। कामुक उच्छृंखलता ऐसी ही विनाशकारी प्रवृत्ति है। प्रकृति में पग-पग पर उसके दर्शन होते हैं।

चीन में पैराडाइज नाम की एक ऐसी मछली पाई जाती है, जो अपने मुँह से, एक विशेष प्रकार के लसलसे रसायन के बुलबुले छोड़ती है। थोड़ी देर में बड़ी संख्या में एकत्र हुए इन बबूलों में एक सिरे से छेदकर वह भीतर-भीतर ऐसी सुंदर छटाई करती है, जिससे बबूलों का समुदाय अनेक मकानों वाला नगर दिखाई देने लगता है। अब मादा अंडे देने प्रारंभ करती है और उन्हें इसी बबूलनगर में पहुँचाती जाती है। स्वयं उस नगर की, पहरेदारी करती रहती है। दुर्ग के किसी भी द्वार से बच्चे निकल न भागने पाएँ, वह इसकी बराबर देख-रेख रखती है, इसी तरह उसकी वंशवृद्धि होती रहती है।

अमेरिका के दक्षिणी भागों में पानी में पाए जाने वाले कछुए की-सी शक्ल का एलीगेटर स्नैपर बड़ा चतुर जीव है। वह अपनी जीभ को बाहर निकालकर, इस तरह दाँयें-बाँयें, आगे-पीछे लपलपाता है कि देखने वाले को यह जीभ किसी स्वतंत्र जीभ-सी लगती है। उसे देखकर कई मछलियाँ उसे खाने के लिए दौड़ पड़ती हैं, जैसे ही वे उसके पास पहुँचती हैं, एलीगेटर स्नैपर उन्हें दबोच कर खा जाता है।

यही स्थिति शरीर में है। इंद्रियों में बसे विषयों की लपलपाहट से भ्रमित होकर जीव उनकी तृप्ति के लिए भाग-भागकर आता है और बार-बार काल के द्वारा दबोच लिया जाता है। थोड़े से बुद्धिमान् भी होते हैं। जो इंद्रियों की इस आसक्ति को आत्मा का नहीं शरीर का विषय मानते हैं और उनसे दूर रहकर ही अपनी रक्षा कर पाते हैं।

नदियों में पाया जाने वाला घड़ियाल जितना क्रूर होता है, उतना ही चतुर भी। शिकार के लिए वह नदियों के किनारे आकर इस तरह निश्चेष्ट पड़ा रहता है, मानो वह कोई चट्टान या निष्प्राण वस्तु हो, जैसे ही कोई मूर्ख मछली पास पहुँची कि उसने पकड़ा और उदरस्थ किया।

मनुष्य की इंद्रियाँ भी उतनी धूर्त्त और चालाक होती है। सामान्यत: वे निर्जीव दिखाई देती हैं। इसलिए मनुष्य आहार-विहार और परिस्थितियों की सतर्कता नहीं रख पाता। जैसे ही खान-पान ओर मर्यादाजन्य भूलें हुईं कि, इन्हीं निष्प्राण लगने वाली इंद्रियों की उत्तेजना ने धर पकड़ा। फिर तो उनके चंगुल से निकल पाना कठिन ही होता है। ज्ञानी और विचारशील लोग पहले से ही सतर्क रहते और संयमित तथा मर्यादित जीवन जीते हैं, तभी वे उनसे बचते और अपनी शक्ति, शांति और सम्मान सुरक्षित रख पाते हैं।

योरोप में एक चिड़िया पाई जाती है "स्पैरो"। उसका मूल आहार है—टिड्‌डा, पर वह मिले कैसे ? स्पैरों एक कोने में दुबक कर बैठती है और ठीक टिड्‌डे की आवाज में बोलना शुरू करती है। टिड्‌डे यह आवाज सुनकर उसके पास आ जाते हैं और स्पैरो पक्षी का आहार बनकर मौत के मुँह में चले जाते हैं।

इंद्रियजन्य सुखों की स्थिति भी ऐसी ही है, जब वे कुलबुलाते हैं, तो मनुष्य यह नहीं समझ पाता कि उनका शरीर से संबंध है, आत्मा से नहीं। वह उन्हें अपना ही स्वजन-सहायक समझकर, उनकी तृष्णा बुझाने में लगा रहता है और इस तरह आत्मा को अवनति के गर्त में धकेलता रहता है।

माया के इन खेलों को समझने वाला और उनसे दूर रहने वाला व्यक्ति ही बुद्धिमान्, विचारशील और आत्मनिष्ठ होता है। उसी का जीवन सफल और सार्थक कहलाता है। प्रकृति के अनगिनत उदाहरण मनुष्य को यही विचार करने को बाध्य करते हैं कि, क्या पाशविक प्रवृत्तियों को स्वयं पर हावी होने दिया जाना चाहिए ? संयमित तथा मर्यादित जीवन जीकर मनुष्य शक्तिशाली-सामर्थ्यवान् भी बनता है तथा सबके सम्मान का पात्र भी। काम-विज्ञान के इसी परिष्कृत स्वरूप को जनमानस को समझाना युग की आज सबसे बड़ी आवश्यकता है।

❑ ❑

नर-नारी का मिलन—एक असामान्य प्रक्रिया

●

नर-नारी को सामान्य सामाजिक स्तर पर अलग रहने की जरूरत नही है। जरूरत यौन-संपर्क के संबंध में अति सतर्कता बरतने की है। मस्तिष्क के बाद जननेंद्रिय का दूसरा स्थान है। इन दोनों केंद्रों को शक्ति-संस्थान कहना चाहिए। पृथ्वी के दो सिरे, दो ध्रुव कहलाते हैं, इन ध्रुवों में अति रहस्यमय प्रकृति की शक्ति धाराओं के स्रोत-बीज दबे पड़े हैं। इन्हीं के कारण यह धरती अपनी धुरी पर घूमने, सूर्य की परिक्रमा करने, लहराती चाल से चलने, महासूर्य को अपने सौरमंडल के साथ भ्रमण कराने में समर्थ है। ऋतु परिवर्तन से लेकर, वनस्पति उत्पादन और खनिज द्रव्यों के निर्माण तथा सारी प्रक्रियाएँ इन्हीं उभय ध्रुवों में सन्निहित शक्ति-बीजों के कारण संभव होती हैं। मनुष्य पिंड में भी पृथ्वी की ही तरह मस्तिष्क उत्तरी ध्रुव और मूलाधार दक्षिणी ध्रुव है। जीवन की चेतनात्मक, बौद्धिक एवं भावनात्मक हलचलों का केंद्र मस्तिष्क है और शरीर में जो कुछ उत्तम, आकर्षक दीखता है, उसका केंद्र जननेंद्रिय के अंतराल में दबा पड़ा है। यदि मस्तिष्क में विकृति आ जाए, तो बुद्धिहीन व्यक्ति पागल की तरह अपने और दूसरे के लिए निरर्थक हो जाएगा। इसी प्रकार यदि मूलाधार के कामबीज विकृत हो, तो स्नायुमंडल से लेकर पाचनतंत्र का सारा कार्यकलाप लड़खड़ा जाएगा। इसलिए इन दोनों शक्ति-संस्थानों का बहुत ही समझ-बूझकर, अति दूरदर्शिता पूर्वक उपयोग किया जाता है। इस उपयोग में बरती गई भूले बहुत ही विघातक सिद्ध होती हैं।

प्रकृति ने मस्तिष्क का बाह्य कलेवर हड्डियों के मजबूत किले के भीतर सुरक्षित रखा है, ताकि बाहरी कोई विघातक तत्त्व शीत, ग्रीष्म का प्रभाव उसे प्रभावित न कर सके। मनुष्य अपने चिंतन-मनन, स्वाध्याय-सत्संग से उसे प्रभावित कर सकता है और दिशा दे सकता है। मस्तिष्क की दिशा जिधर चल पड़ती है, जीवन

का स्वरूप वैसा ही बन जाता है और उसी आधार पर मनुष्य उन्नति-अवनति, सुख-दुःख के परिणाम उपलब्ध करता है। मस्तिष्क मर्म स्थल कहा गया है—उसके ब्रह्म रंध्र में क्षीर सागर निवासी विष्णु भगवान् विराजमान हैं। इस पौराणिक अलंकार में यही रहस्य छिपा पड़ा है कि समस्त दिव्यशक्तियों, सिद्धियों और विभूतियों का केंद्र मस्तिष्क ही है। इसे स्वस्थ एवं समुन्नत रखने के लिए विद्याध्ययन से लेकर विचार विनिमय तक में हमें बहुत कुछ करना होता है। तभी इस मस्तिष्क से समुचित लाभ मिल पाता है। यदि उसे कुसंग, दुर्बुद्धि, अशुभ-चिंतन आदि से विकृत कर लिया जाए, तो समझना चाहिए कि, उत्कर्ष की संभावनाएँ समाप्त हो गईं और भविष्य को अंधकारमय बना लिया गया।

ठीक इसी प्रकार, जननेंद्रिय का महत्त्व है। उसे मात्र मूत्र-त्याग अथवा घिनौने मनोरंजन के लिए नहीं बनाया गया। उसमें स्वास्थ्य संरक्षण से लेकर दीर्घ जीवन तक के सारे सूत्र बीज रूप में विद्यमान हैं, इसीलिए इसे भी ऐसी जंघाओं की मांसल किंतु अति कोमल परिधि के दायरे में प्रकृति ने प्रतिष्ठापित किया है। इस सुरक्षात्मक व्यवस्था के पीछे प्रकृति का यही निर्देश सन्निहित है कि इस मर्म स्थल का उपयोग अति सतर्कता और दूरदर्शिता के साथ ही किया जाना चहिए। उसे निम्न स्तर के क्रीड़ाकलाप का खिलौना बनाकर अपनी शारीरिक क्षमताओं पर कुठाराघात नहीं किया जाना चाहिए।

नर-नारी का सामान्य मिलन जितना उपयोगी है, उतना वासनात्मक संपर्क से खतरा भी है। दोनों का स्वरूप और महत्त्व अलग-अलग है। प्रतिबंधित व्यक्ति-सान्निध्य नहीं, यौन मिलन किया जाना चाहिए। यह ध्यान रखा जाए, वासनाओं का उभार एक अलग चीज है, जिसका सामाजिक नर-नारी संपर्क से कोई विशेष संबंध नहीं। पुरुष दुकानदारों के यहाँ सामान खरीदने दिन भर औरतें जातीं और बात करती हैं। कोई विकार उत्पन्न नहीं होता, न कोई किसी की ओर आकर्षित होता है। आकर्षण उस विशेष मनःस्थिति

में उत्पन्न होता है, जिसमें यौन-संपर्क की अभिलाषा भी रहती है। यदि इस भावस्थल को पहले से ही निर्मल बना लिया जाए, तो बात भले ही नवयौवन की हो, सामने वाले रूपवान् पक्ष के लिए भी आकर्षण पैदा न होगा।

यह बचाव इसलिए आवश्यक है कि यौन संस्थान में अद्भूत विद्युत् धाराएँ प्रवाहित करने वाला शक्ति केंद्र विराजमान है, जिसे मूलाधार चक्र कहते हैं। वस्तुतः यह नामकरण बहुत ही समझ-बूझकर किया गया है। यही शरीर के अंतर्गत काम करने वाले सारे क्रियाकलाप, उत्साह, स्फूर्ति, कोमलता, आकर्षण, आरोग्य, दीर्घजीवन आदि का मूलभूत आधार है। अवांछनीय छेड़खानी करने से हम काम-क्षमता को एक प्रकार से नष्ट-भ्रष्ट कर डालते हैं।

नर में प्राण और नारी में रयि शक्ति की प्रधानता है। उसे आध्यात्मिक भाषा में, अग्नि और सोम कहते हैं। विज्ञान के शब्दों में इन्हें धन और ऋण विद्युत्-धारा पुकारते हैं, इनमें स्वभावतः आकर्षण है। एक-दूसरे के समीप आकर अपनी अपूर्णता पूर्ण करना चाहते हैं। जहाँ तक सामान्य संपर्क का संबंध है, वहाँ तक यह विनिमय उपयोगी है। सभी जानते हैं कि बिना बाप या भाई की लड़की और बिना माँ या बहन का लड़का मानसिक दृष्टि से, अपूर्ण-अविकसित पाया जाता है। प्रतिपक्षी वर्ग का संपर्क व्यक्तित्व के विकास के अनेक द्वार खोलता है। एकांकी-अलग-थलग पड़ा जीवनक्रम कुंठित और मूर्च्छित होता चला जाता है। विधवा और विधुरों की मृत्यु संख्या, रोगग्रस्तता एवं शारीरिक दुर्बलता— विवाहितों की अपेक्षा कहीं अधिक पाई जाती है। परदे में रहने वाली महिलाएँ, हर दृष्टि से पिछड़ती चली जाती हैं। यह सामान्य प्रतिपक्षी संपर्क से वंचित होने का ही दुष्परिणाम है। यदि जनसंपर्क में नर-नारी जैसी बाधा उपस्थित न की जाए, तो इससे व्यक्तित्वों के विकास में बाधा उत्पन्न नहीं होगी, वरन् सहायता ही मिलेगी।

यदि मन में काम-विकार जाग पड़े, तो प्रतिपक्षी वर्ग के साथ सामान्य संपर्क की मर्यादा तोड़कर, यौन-संबंध स्थापित करने की

अभिलाषा होती है। दोनों विद्युत्-धाराएँ समीप आने के लिए मचल उठती हैं और उससे सामाजिक काम-विकृति तो प्रत्यक्ष ही फैलती है, शारीरिक, मानसिक गड़बड़ी भी कम नहीं उभरती। व्यभिचार के पीछे एक तथ्य तो स्पष्ट है कि सामान्य स्तर के व्यक्ति अपने दांपत्य जीवन तथा परिवार के प्रति निष्ठावान् नहीं रहते। दूसरी जगह आकर्षण चला जाने से अपना परिवार, उस स्नेह-सौजन्य के लाभ से वंचित होने लगता है, जो सामान्यतः किसी सद्गृहस्थ के लिए आवश्यक है। परिवार व्यवस्थाएँ गड़बड़ाने न लगें, गृहस्थ अपनी-अपनी धुरी पर टिके रहें, इस दृष्टि से व्यभिचार को हेय माना गया, पर यह कोई अविच्छिन्न मर्यादा नहीं है। आवश्यकता अनुसार इसमें हेरफेर भी होते रहते हैं। जर्मनी में जब पिछले महायुद्ध के समय पुरुष बहुत मारे गए और नारियों की संख्या अधिक रह गई, तो तत्कालीन स्थिति को देखते हुए, एक पुरुष कई पत्नियाँ रख सके, कानून में ऐसे सुधार किए गए। सामान्यतः ईसाई देशों में एक पत्नी, एक पति का ही कानून रहता है। इसी प्रकार देहरादून जिले के जौनसार बावर क्षेत्र के पहाड़ी इलाकों में आम रिवाज है कि, भाईयों में से एक बड़े भाई का विवाह होता है, जो पत्नी आती है वह सब छोटे भाइयों की भी उपपत्नी होती है। बच्चे उन जन्मदाताओं को बड़े पिताजी, मँझले पिताजी, छोटे पिताजी आदि कहकर संबोधित करते हैं। वहाँ इस विवाह पद्धति को कोई न व्यभिचार कहता है और न बुरा मानता है। उनका कहना है कि हम उन पाँच पांडवों की संतान हैं, जिन्होंने एक द्रौपदी से ही अपना दांपत्य जीवन निभा लिया था। जहाँ तक उथले स्तर पर बहुपतियों-बहुपत्नियों का संबंध है, वहाँ तक उसे सामाजिक स्तर का परिवारिक जीवन में विकृति उत्पन्न करने वाला पाप ही कहा जा सकता है। यदि कहीं ऐसी गड़बड़ न होती हो और गृहस्थ सद्भावतः यथावत् बना रहता हो, तो उस दोष का परिमार्जन हो जाता है, जिसके कारण एक से अनेक का दांपत्य जीवन गर्हित या वर्जित घोषित किया गया है। कृष्ण ने बहुपत्नी और द्रौपदी ने

बहुपति का सफल प्रयोग करके, यह सिद्ध किया था कि, पारिवारिक जीवन में विकृति उत्पन्न किए बिना यौन-संपर्क को विस्तृत किया जा सकता है, पर यह हर किसी के बस की बात नहीं। इस प्रयोग में बहुत ऊँचे या नीचे व्यक्ति ही सफल हो सकते हैं। अस्तु, सामान्य समाज व्यवस्था में एक पत्नी या एक पति प्रथा का ही प्रचलन है, जो उचित भी है और आवश्यक भी।

प्राचीन काल में नियोग प्रथा प्रचलित थी। सुयोग्य संतान उत्पन्न कर सकने की क्षमता से संपन्न न होने पर, पति अपनी पत्नी के लिए अन्य उपयुक्त व्यक्ति से यौन-संपर्क करने की आज्ञा देते और उस आधार पर जो बच्चे होते थे, उन्हें सम्मानित नागरिक ही माना जाता था। विचित्रवीर्य ने अपनी पत्नियों की व्यास जी द्वारा ऐसे ही नियोग की व्यवस्था की थी और उत्पन्न हुए तीनों बालक पांडु, धृतराष्ट्र तथा विदुर वैध संतान के सम्मान से वंचित नहीं हुए थे। आज के लोगों की मनःस्थिति दूसरी है, इसलिए प्रतिबंध लगाने की जरूरत पड़ी, उन दिनों व्यक्ति अधिक उदार और उत्तरदायी होते थे। नियोग की प्रथा रहने पर भी, कोई अपने पारिवारिक उत्तरदायित्वों में गड़बड़ाता न था, उन दिनों की बात दूसरी थी, पर अब जबकि छोटी तबियत के लोग तनिक-से आकर्षण में अपने घर बिगाड़ने लगे, तो एक पत्नी या एक पति की मर्यादा ही उचित है।

नर-नारी संपर्क की अभिवृद्धि में जो खतरा है, उसे समझने के लिए हमें अधिक गहराई तक विचार करना होगा। सामाजिक मानक्षेत्र में जहाँ तक परिवार विग्रह के कारण उत्पन्न अव्यवस्था का सवाल है, वहाँ यदि उच्चस्तरीय संपर्क हो, तो उस संबंध में थोड़ी उपेक्षा भी की जा सकती है, पर इस संदर्भ में अधिक कड़ाई बरतने का अधिक महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि, यौन संपर्क से नर-नारी की अति महत्त्वपूर्ण विद्युत्-शक्ति एक-दूसरे में अति तीव्रतापूर्वक प्रवाहित होती है। यदि वह प्रवाह उपयुक्त न हुआ, तो आंतरिक क्षमता का अचानक ह्रास और विद्रूप प्रस्तुत होता है। शक्ति का नियम यह है कि, वह अधिक से कम की ओर भागती

है। दो तालाबों को यदि नाली खोदकर आपस में मिला दिया जाए, तो ऊँचे लेबिल का पानी, नीचे लेबिल के तालाब की ओर बहना आरंभ कर देगा और प्रवाह तब तक चलता रहेगा, जब तक कि, दोनों का पानी एक तल पर नहीं आ जाता। एक रोगी और दूसरा निरोग व्यक्ति यदि यौन संपर्क करेंगे, तो प्रत्यक्षतः रोगी को लाभ और निरोग व्यक्ति को हानि होगी। एक की सामर्थ्य दूसरे में प्रवाहित होगी और नर या नारी, जो दुर्बल होगा लाभ में रहेगा और सबल को घाटा उठाना पड़ेगा। यही बात शरीर संबंधी स्थिति पर जितनी लागू होती है, उससे हजार गुना अधिक मनःस्थिति पर लागू होती है। ओछे स्तर के दुष्ट, दुराचारी, व्यसनी और अनाचारी व्यक्तियों से यौन संपर्क बनाने वाला अगला पक्ष अपनी आत्मिक विशेषताओं को खोता चला जाएगा। इसी प्रकार मंद बुद्धि और प्रतिभासंपन्नों के बीच इस प्रकार का प्रत्यावर्तन निश्चित रूप से समर्थ पक्ष के लिए हानिकारक सिद्ध होगा।

उच्चस्तरीय प्रतिभाओं से संपन्न व्यक्तियों में स्वभावतः कितने महत्त्वपूर्ण चेतन तत्त्व भरे पड़े होते हैं, उन्हीं के आधार पर उन्हें आश्चर्यजनक सफलताएँ मिलती हैं। यदि उस शक्ति-स्रोत को वे काम-क्रीड़ा में खर्च करने लगें, तो धीरे-धीरे अपना कोश समाप्त करते चले जाएँगे। इसलिए प्रतिभासंपन्न व्यक्तियों को, उच्चस्तरीय बौद्धिक और आत्मिक गुण संपन्नों को ऐसे विनियोग करने से रोका गया है। ब्रह्मचर्य ऐसे लोगों के लिए, अधिक आवश्यक है। घटिया शरीर और मनःस्थिति का व्यभिचार करे, तो उसे उतना घाटा नहीं है, जितना मनोबल और आत्मबल संपन्न लोगों को। इस शरीरबल की तुलना में, मनोबल का मूल्य अत्यधिक है। पुष्ट शरीर और दुर्बल शरीर का यौन-संपर्क स्वस्थ पक्ष को थोड़ी-सी ही शारीरिक क्षति पहुँचाता है। मनोबल और बुद्धिबल तो प्रत्यक्ष प्राण हैं। वह तनिक अवसर पाते ही प्रचंड प्रवाह की तरह विद्युत् गति से दौड़ पड़ता है और निम्न मनोबल के पक्ष में स्थित होकर, अपनी भारी हानि कर लेता है। दुर्बल मनोबल वाला पक्ष थोड़ा उठाले, यह ठीक

है, पर उससे प्राणशक्ति संपन्न पक्ष अपनी प्रतिभा खोकर, उस प्रयोजन को पूरा कर सकने में असमर्थ हो जाता है, जो अनेक दृष्टियों से अति महत्त्वपूर्ण होते हैं।

विवाह वस्तुतः व्यक्ति विनियोग की दृष्टि से अतीव सतर्कता के साथ ही किए जाने चाहिए। जोड़ा ठीक हो, तो ही उसकी सार्थकता है अन्यथा उससे लाभ से भी अधिक हानि की संभावना रहती है। भोजन पका देने या बच्चे पैदा करने का लाभ उतना महत्त्व का नहीं जितना कि प्राणों के प्रत्यावर्तन का। जिसका व्यक्तित्व जितना घटिया है, गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से जिसका स्तर जितना नीचा है, उसमें आंतरिक क्षमता उतनी ही स्वल्प होगी। कई व्यक्ति शरीर से सुंदर, पुष्ट दीखते हुए भी, आंतरिक दुर्बलताओं के कारण बहुत ही दीन-हीन होते हैं। इसके विपरीत शरीर से क्षीण दीखने वालों का प्राणबल आंतरिक उत्कृष्टता के कारण बहुत प्रबल रहता है। यौन-संपर्क से प्रत्यावर्तन शरीरों का नहीं, प्राण का होता है। शक्ति का सूक्ष्म स्वरूप प्राण है, शरीर का कलेवर नहीं। प्राण की पुष्टि, परिपक्वता केवल उत्कृष्ट व्यक्तित्वों और श्रेष्ठ प्रतिभासंपन्नों में ही संभव है, ऐसे व्यक्ति अपनी उस विभूति को क्रीड़ा-कल्लोल में खर्च करके छूँछ न बन जाएँ और विश्व की महती सेवा कर सकने के पुण्य से वंचित न हो जाएँ, इसलिए उन्हें अधिक सतर्कता और कठोरता के साथ ब्रह्मचर्य पालन करने के लिए प्रतिबंधित किया गया है।

काम-विकार आँधी, तूफान की तरह आते हैं और बिना पात्र-कुपात्र का भेद किए बादलों की तरह चाहे जहाँ बरस पड़ते हैं। यदि वह संपर्क वैध अथवा उपयुक्त नहीं है, तो इससे बहुत प्रकार की विकृतियाँ उत्पन्न होंगी। विवाह हो या व्यभिचार, प्राणशक्ति का विनियोग समान रूप से अपना वैज्ञानिक प्रभाव उत्पन्न करेगा। घटिया और स्तरहीन ओछे व्यक्तियों के साथ संपर्क बनाकर न पत्नी को लाभ मिलेगा, न प्रेयसी को। न पति का कल्याण है, न प्रेमी का। यौन-संपर्क एक प्रकार से अपनी शारीरिक, मानसिक और

आत्मिक जीवन का आत्मसमर्पण है। अविवेकपूर्ण चाहे जहाँ, चाहे जिसके साथ, बिना उसकी आंतरिक स्थिति को परखे, यदि शरीर आकर्षण अथवा इंद्रिय प्रेरणा से प्रेरित होकर ये किए जाएँगे, तो उसमें समर्थ पक्ष को बहुत तरह की, बहुत गहरी क्षति उठानी पड़ेगी। तनिक-सी पीड़ा उसे बहुत महँगी पड़ेगी।

नर-नारी का सामान्य संपर्क यदि व्यभिचार तक बढ़ चले, तो निःस्संदेह वह बहुत हानिकारक है, इससे मनोबल उन्नत न होगा। बहुत घाटे- में रहेंगे हम प्रतिभाएँ कुंठित होती चली जाएँगी और उच्च व्यक्तित्वों के दुर्बल होने से समाज की भारी क्षति होगी। यों शरीर संपर्क की मर्यादा का व्यतिक्रम भी कम हानिकारक नहीं है। सामान्य व्यक्तियों को भी, बहुत दिन बाद यदाकदा ही 'कामसेवन' की बात सोचनी चाहिए। यदि वे आए दिन इसी मखौल में उलझे रहे और अपने ओजस् को गंदी नालियों में बहाते रहे, तो उन्हें शारीरिक रुग्णता और दुर्बलता का शिकार ही नहीं बनना पड़ेगा, बल्कि मनोबल, और प्राणशक्ति की पूँजी से भी हाथ धोना पड़ेगा। काम-सेवन में जिनकी अति प्रवृत्ति है, वे अपनी ही पूँजी नहीं चुकाते वरन् स्वयं का भी सर्वनाश करते हैं। अपने समाज में नारी की शारीरिक-मानसिक दुर्गति का बहुत बड़ा कारण उनके पतियों द्वारा बरती जा रही अत्याचारी रीति-नीति है; जिसके कारण उन्हें विवश होकर अपने अच्छे-खासे स्वास्थ्य की बर्बादी सहन करनी पड़ती। यदि संयम से गृहस्थ जीवन चलाया गया होता, तो न कोई नारी बंध्या होती, न किसी को प्रदर जैसे रोगों का शिकार बनना पड़ता। जितनी संतान भली प्रकार पालित नहीं की जा सकती, उतनी पैदा करके गृहस्थ-जीवन का उद्देश्य और आनंद नष्ट कर लेना भी यौन-संपर्क की मर्यादाओं का अतिक्रमण ही है। ऐसे अविवेकी साथी को पाकर किस गृहस्थ को विवाह का आनंद मिलेगा। यौन-संपर्क की जिसमें खुली छूट है, उस विवाह के करने से पूर्व ही हजार बार सोचना चाहिए कि साथी का प्रजनन तत्त्व किस स्तर का है ? उसकी विचारणा, भावना, गुण, कर्म-स्वभाव, चरित्र, मनोबल,

आत्मबल जैसे उच्च तत्त्वों की स्थिति क्या है ? यदि ऐसा नहीं ढूँढ़ा गया और यों ही किसी नर तनुधारी से विवाह कर लिया गया, तो उससे शरीर को क्षीण करने के अतिरिक्त और कोई प्रयोजन सिद्ध न होगा।

जननेंद्रियों का संपर्क काम-उल्लास ही नहीं, वरन् उच्च भाव संपन्न व्यक्तित्वों का परस्पर आंतरिक आदान-प्रदान ही वह आनंद कर सकता है, जिसे भौतिक जगत् का सर्वोपरि सुख माना गया है और जिसकी तुलना ब्रह्मानंद से की गई है। प्रकृति और पुरुष का संयोग ही इस सृष्टि में आनंद और उल्लास की तरंगें प्रवाहित कर रहा है। केवल उच्चस्तरीय भावनाओं से संपन्न नर-नारी ही एकांत मिलन का वह आनंद ले सकते हैं, जो शक्ति को किसी तरह नष्ट नहीं करता, वरन् असंख्य गुनी बढ़ा लेता है। काम-सेवन आमतौर से हानिकारक ही माना गया है, पर इन अपवादों को छोड़कर लाभदायक, शक्ति-संवर्धक और उत्कर्ष में सहायक सिद्ध हो सकता है, पर ऐसा होता कहाँ है ? ऐसे जोड़े मिलते कहाँ हैं ? जब वैसी स्थिति प्राप्त न हो, तब केवल इंद्रियसुख के लिए काम-सेवन एक क्षणिक आवेश और हानिकारक कार्य ही सिद्ध होता है। इसलिए यौन-संपर्क में बहुत ही सावधानी बरतने और जहाँ तक संभव हो ब्रह्मचर्य पालन करने की मर्यादा नियंत्रित की गई है। वही सर्वोपयोगी भी है।

☆ काम को मरण मात्र नहीं, अमृत बनाएँ

शरीरशास्त्री और मनोविज्ञानवेत्ता यह बताते हैं कि, 'नर-नर का सान्निध्य, नारी-नारी का सान्निध्य मानवीय प्रसुप्त शक्तियों के विकास की दृष्टि से इतना उपयोगी नहीं, जितना भिन्न वर्ग का सान्निध्य विवाहों के पीछे सहचरत्व की भावना ही प्रधान रूप से उपयोगी है, सच्चे सखा-सहचर की दृष्टि से परस्पर हँसते, खेलते जीवन बिताने वाले पति-पत्नी यदि आजीवन कामसेवन न करें, तो भी एक-दूसरे की मानसिक एवं आत्मिक अपूर्णता को बहुत हद

तक पूरा कर सकते हैं। मनुष्य में न जाने क्या ऐसी रहस्यमय अपूर्णता है कि वह भिन्न वर्ग के सहचरत्व से अकारण ही बड़ी तृप्ति और शांति अनुभव करता है। अविवाहित जीवन में सब प्रकार की सुविधाएँ होते हुए भी, एक उद्विग्नता, अतृप्ति और अशांति बनी रहती है। विवाह के बाद एक निश्चिंतता-सी अनुभव होती है। साथी की प्रगाढ़ मैत्री का विश्वास करके, व्यक्ति अपनी समर्थता दूनी ही नहीं, दस गुनी अनुभव करता है। एकांकी जीवन में शून्यता थी, उसकी पूर्ति तब होती है, जब यह विश्वास बन जाता है कि हम अकेले नहीं दुहरे साथी को लेकर चल रहे हैं, जो हर मुसीबत में सहायता करेगा और प्रगति के हर स्वप्न में रंग भरेगा। यह विश्वास मन में उतरते ही मनोबल चौगुना बढ़ जाता है और उत्साह भरी कर्मठता और आशा भरी चमक से जीवनक्रम में एक अभिनव उल्लास दृष्टिगोचर होता है। विवाह का मूल लाभ भिन्न वर्ग के सान्निध्य से होने वाले उभयपक्षी सूक्ष्म शक्ति प्रक्रिया का अति महत्त्वपूर्ण प्रत्यावर्तन तो है ही, एक मनोवैज्ञानिक लाभ अंतरंग का एकाकीपन दूर करना और समर्थता को द्विगुणित हुई अनुभव करना भी उज्ज्वल भविष्य की सम्भावना की दृष्टि से बहुत उपयोगी है।

काम-सेवन विवाहित जीवन में आवश्यकतानुसार-मर्यादाओं के अंतर्गत-उपयुक्त होता रहे, तो उनमें कोई बड़ा अनर्थ नहीं है, पर उसे आवश्यक या अनिवार्य न माना जाए। मोटेतौर से पति-पत्नी की परस्पर मनःस्थिति वैसी ही होनी चाहिए, जैसे दो पुरुष या दो नारियों की सघन मित्रता होने पर होती है। सखा, साथी, मित्र, स्नेही का रिश्ता पर्याप्त है। कामुक और कामिनी को दृष्टि में रखकर किए गए विवाह घृणित हैं। रूप, रंग, शोभा, सौंदर्य के आधार पर उत्पन्न हुआ आकर्षण एक आवेश मात्र है। उस आधार पर जो जोड़े बनेंगे, वे सफल न हो सकेंगे। रूप, यौवन की सारी चमक को एक छोटा-सा रोग, बात की बात में नष्ट करके रख सकता है। फिर कोई दूसरा अधिक सुंदर आकर्षण सामने आ जाए, तो मन उधर लुढ़क सकता है। रूपवान् में दोष, दुर्गुण भरे पड़े हों,

तो भी निर्वाह देर तक नहीं हो सकेगा। शारीरिक आकर्षण की खोज आज की विवाह-प्रथा का प्रधान अंग बनती जा रही है। रूपवान् लड़के-लड़कियों की ही माँग है। कुरूपों की बाजार दर दिन-दिन गिरती जाती है। यह प्रवृत्ति बहुत ही विघातक है। चमड़ी की चमक ही यदि अच्छे साथी की कसौटी बन जाएगी, तो फिर आंतरिक स्तर की उत्कृष्टता का क्या मूल्य रह जाएगा ? फिर भावनाओं की, सद्‌गुणों की, स्नेह-सौजन्य की कीमत कौन आँकेगा ?

चमड़ी का रंग या नख-शिख की बनावट को शोभा, सौंदर्य की दृष्टि से सराहा जा सकता है। नृत्य-अभिनय में उसको प्रमुखता मिल सकती है। नयनाभिराम, मनमोहक आकर्षण भी उसमें देखा जा सकता है। ईश्वर की कृति की इस विभूति से प्रसन्न हुआ जा सकता है। दांपत्य जीवन में उसकी कोई बहुत उपयोगिता नहीं है। मिलन चमड़ी का, आँख, नाक का नहीं, वरन् अंतरंग का होता है और उसकी उत्कृष्टता, निकृष्टता चेहरे या अवयवों की बनावट से तनिक भी संबंध नहीं रखती। हो सकता है, कोई काला-कुरूप व्यक्ति योगी-अष्टावक्र, नीतिज्ञ-चाणक्य अथवा पांचाली द्रौपदी की तरह उच्च मनःस्थिति धारण किए हो। रूपवती नर्तकियाँ, अभिनेत्रियाँ, नट-नायक कोई उच्च भावनाशील ही थोड़े होते हैं। बंदीगृह में क्रूर कर्म करने के दंड में अगणित नर-नारी आते रहते हैं, उनके कुकर्मों का विवरण सुनकर रोमांच खड़े हो जाते हैं। रूप-रंग के आवरण में उनके भीतर प्रेत-पिशाच का वीभत्स नृत्य देखकर दिल दहल जाता है। विवाह का वास्तविक आनंद और लाभ जिन्हें लेना हो, उन्हें साथी का चुनाव करने में रंग-रूप की बात को ताक में रख देनी चाहिए। केवल सद्‌भावना, निष्ठा, सौजन्य, व्यवस्था, उदारता, दूरदर्शिता, उत्साही और हँसमुख प्रकृति जैसे सद्‌गुणों पर ही ध्यान देना चाहिए। सज्जनों के बीच ही, चिरस्थायी मैत्री का निर्वाह होता है। दुर्जन तो क्षणभर में मित्र बनते हैं और पलभर में शत्रु बनते देर नहीं लगती। अभी बहकावे की

मीठी-मीठी बात कर रहे थे और चापलूसी की अति कर रहे थे, अभी तनिक-सी बात पर खून के प्यासे बन सकते हैं। प्रेम के जाल में ऐसे ही लोग दूसरे को फँसाते-फिरते बहुत देखे जाते हैं। इसलिए विवाह की सोचने से पहले साथी के चुनाव की कसौटी निश्चित करनी चाहिए और वह यह होनी चाहिए कि, रंग-रूप कैसा ही क्यों न हो, साथी की आंतरिक स्थिति में स्नेह-सौजन्य का समुचित पुट होना ही चाहिए। जिन्हें ऐसा साथी मिल जाए उन्हें समझना चाहिए कि, उसका विवाह करना सार्थक हो गया।

काम-सेवन के संबंध में उपेक्षा वृत्ति बरती जानी चाहिए। इस प्रयोग का स्वास्थ्य पर असर पड़ता है। कम ही लोग ऐसे होते हैं, जिनके पास अपनी शारीरिक, मानसिक आवश्यकता की पूर्ति के अतिरिक्त व्यय इसका ओजस् संचित रहे, जिसे क्रीड़ा-कल्लोल में व्यय कर सके। आमतौर से—वर्तमान परिस्थितियों में लोग इतनी ही शक्ति उपार्जित कर पाते हैं, जिसके आधार पर किसी प्रकार काम चलता रहे और गाड़ी लुढ़कती रहे। इस स्वल्प उत्पादन में से यौन संपर्क में अपव्यय किया जाएगा, तो उसका सीधा प्रभाव समग्र स्वास्थ्य और जीवनयात्रा पर पड़ेगा। विषयी मनुष्य अपनी श्रमशीलता, तेजस्विता, स्फूर्ति, निरोगता, प्रतिभा, स्मरणशक्ति, साहसिकता, स्थिरता, संतुलन आदि सभी शारीरिक-मानसिक विशेषताएँ खोते चले जाते हैं। यह अपव्यय जितना बढ़ता है, उतना ही खोखलापन बढ़ता चला जाता है। आसक्ति का शिकंजा अपने गले में कसा जाना, हर कामुक व्यक्ति निरंतर अनुभव करता रहा है। यह एक प्रकार से स्वेच्छापूर्वक, हँसते-खेलते की जाने वाली, मंदगति से की जाने वाली आत्महत्या ही है।

प्रजनन जब उचित और आवश्यक हो, तो उचित मर्यादाओं के अंतर्गत काम-सेवन में ढील छोड़ी जा सकती है। यदि अपनी या साथी की तंदुरुस्ती या मनःस्थिति ठीक न हो, तो इस प्रकार छेड़छाड़ का कोई तुक नहीं रह जाता। पति-पत्नी के बीच इस प्रकार का धैर्य, संतुलन रहना ही चाहिए कि जब तक अति

आवश्यक न हो, दोनों की पूर्ण सहमति न हो, तब तक इस प्रसंग को उपेक्षित ही किया जाए। साथी की अनिच्छा रहने पर, उसे विवश करना एक प्रकार से बलात्कार जैसा अपराध ही है, भले ही वह विवाहित साथी के साथ किया गया हो अथवा अविवाहित साथी के साथ। मानसिक सहमति-सहयोग न होने पर तो एक दृष्टि से उसे निर्लज्ज बलात्कार ही कहा जाएगा। ऐसा प्रसंग जिससे साथी का मन रोष या क्षोभ से भर जाए निश्चित रूप से कामुक व्यक्ति के लिए हर दृष्टि से हानिकारक सिद्ध होगा। क्षणिक उद्वेग शांत करके, जितनी प्रसन्नता पाई गई थी, कालांतर में उसकी प्रतिक्रिया अनेक गुनी अप्रसन्नता की परिस्थिति लेकर सामने आएगी। अस्तु, हर समझदार पति-पत्नी को आदि से अंत तक ऐसी मनःस्थिति विनिर्मित करनी चाहिए कि, कोई किसी को कठिनाई, क्षति या असमंजस में न डाले। दांपत्यजीवन के बीच ब्रह्मचर्य की निष्ठा का जितना प्रभाव होगा, उतना ही पारस्परिक सद्‌भाव प्रगाढ़ होता जाएगा और वह लाभ मिलेगा, जिसे प्राप्त करना विवाह का मूल प्रयोजन है।

जननेंद्रिय का अमर्यादित उपयोग यौन रोग उत्पन्न करता है। विशेषतया नारी को तो इससे अत्यधिक हानि उठानी पड़ती है। औसत नारी महीने में एकाध बार से अधिक, काम-क्रीड़ा का दबाव नहीं सहन कर सकती। प्रजनन की दृष्टि से हर बच्चे के बीच कम से कम पाँच वर्ष का अंतर होना चाहिए। जल्दी-जल्दी बच्चे उत्पन्न करने और काम-क्रीड़ा का अधिक दबाव पड़ने पर नारी अपनी शारीरिक ही नहीं, मानसिक स्वास्थ्य भी खो बैठती है। दैनिक काम-क्रीड़ा का स्वरूप हँसी, विनोद, मनोरंजन, चुहल, छेड़-छाड़ तक सीमित रहे, तभी ठीक है। हर्षोल्लास बढ़ाने वाले, छुटपुट क्रियाकलाप चलते रहें, तो चित्त प्रसन्न रहता है, परस्पर घनिष्ठता बढ़ती है और सान्निध्य का मनोवैज्ञानिक ही नहीं, काम प्रयोजन भी पूरा हो जाता है। यौन-संपर्क को यदाकदा के लिए ही सीमित रखना चाहिए। आए दिन की इस विडंबना में फँसकर मनुष्य अपना

स्वास्थ्य ही नष्ट नहीं करता, प्रतिक्रिया के आनंद से भी वंचित हो जाता है। कामुक, व्यक्ति बहुत घटिया और उथला आनंद ले पाते हैं। जननेंद्रिय का अमर्यादित उपयोग हर तरह से गर्हित और हेय एवं त्याज्य है। इसके सदुपयोग के लिए सतर्कता रखनी ही चाहिए।

इस संदर्भ में यह समझ ही लिया जाए कि, जननेंद्रिय का सीधा संबंध मस्तिष्क से है। वहाँ जो कुछ गड़बड़ होगी, उसका सीधा प्रभाव मस्तिष्क पर पड़ेगा। मनोविज्ञानवेत्ताओं के अनुसार उचित समय पर उचित काम-सेवन को अवसर न मिलने से जहाँ अपस्मार, मूर्च्छा, हिस्टीरिया, अनिद्रा, चिड़चिड़ापन, स्मरणशक्ति की कमी, सिर दर्द, हृदय रोग, नाड़ी विकृति आदि रोग उत्पन्न होते हैं, वहाँ अति काम-सेवन भी ऐसे ही उद्वेग उत्पन्न करता है। लंपटों का शरीर जितना क्षीण होता है, मन उससे भी अधिक विक्षिप्त, असंतुलित रहने लगता है। अनेक मानसिक रोगों से त्रस्त उन्हें पाया जाएगा, जिन्होंने काम-सेवन की दिशा में अति बरती। इस प्रकार का दुरुपयोग यों तो दोनों के लिए ही हानिकारक है, पर नारी को तो उसकी क्षति असाधारण रूप से उठानी पड़ती है। अतएव विवाहित जीवन को काम-क्रीड़ा के उच्छृंखल उपयोग की खुली छूट नहीं मान लेनी चाहिए और उस संदर्भ में लगभग वैसी ही सतर्कता-उपेक्षा बरतनी चाहिए जैसी कि, अविवाहित-जीवन में बरती जाती है। इस शक्ति-संग्रह का, सर्वतोमुखी प्रतिभा और व्यक्तित्व के विकास पर सीधा असर पड़ता है। सुहागिनों की अपेक्षा विधवाएँ अथवा कुमारियाँ अधिक तेज तर्रार और स्फूर्तिवान् पाई जाती हैं। इसका कारण उनकी अंतःशक्ति का अनावश्यक क्षरण न होना ही प्रधान कारण है। इस लाभ से विवाहितों को भी वंचित नहीं होना चाहिए।

काम-सेवन का वैज्ञानिक स्वरूप यह है कि शरीरों की विद्युत्-शक्ति का इस प्रयोग द्वारा अति द्रुतगति से प्रत्यावर्तन होता है। मानवीय विद्युत् की मात्रा शरीर में भी पाई जाती है, पर उसका भंडार चेतन संस्थान में ही देखा-पाया जाता है। यौन-संस्थान की

नींव में यह बिजली अकूत मात्रा में भरी पड़ी है, जैसे ही जननेंद्रिय निकट आती हैं वैसे ही वह प्रसुप्त शक्ति सजग और प्रबल हो उठती हैं और तत्काल दोनों पक्ष अपनी विद्युत्-शक्ति का विनिमय करने लग जाते हैं। ऋण विद्युत्धारा धन की ओर तथा धन धारा ऋण की ओर दौड़ने लग जाती है। नर नारी को और नारी नर को अपना शक्ति-प्रवाह प्रस्तुत करते हैं। इस सम्मिलन एवं प्रत्यावर्तन का ही वह परिणाम है, जो काम-सेवन के आनंद के रूप में उस क्षण अनुभव किया जाता है। यह विशुद्ध रूप से प्राण और रयिं शक्ति के अग्नि और सोम के परस्पर प्रत्यावर्तन की अनुभूति है। यह प्रयोग अति महत्त्वपूर्ण है, इससे जहाँ व्यक्तित्वों का विकास हो सकता है, वहाँ विनाश भी संभव है। प्रबल विद्युत्धारा पक्ष, निर्बल पक्ष को, अपना अनुदान देकर उसे ऊँचा उठाने और परिपुष्ट बनाने में सहायता कर सकता है, पर जिसके शरीर में क्षीण प्राण है, वह साथी को क्षति ही पहुँचा सकता है। इसका परिणाम यह भी हो सकता है कि, दोनों शारीरिक दृष्टि से न सही, प्राणशक्ति की दृष्टि से समान स्तर पर आ जाएँ।

वेश्या शरीर का क्षरण करते रहने पर भी अपना रूप-सौंदर्य बनाए रहती है। इसका कारण शरीरशास्त्री नहीं बता सकते। इसका उत्तर प्राणविद्या के ज्ञाताओं के पास है। वह मनस्वी कामुकों की शक्ति चूसती रहती है और जिस स्थिति में सामान्य गृहस्थ नारी मृत्यु के मुख में जा सकती थी, उस स्थिति में भी अपने चेहरे पर चमक और शरीर में स्फूर्ति बनाए रहती है। यदि उनके प्रेमी घटिया स्तर के, रोगी या मूर्ख स्तर के हों, तो फिर उनका स्वास्थ्य और तेज कभी भी स्थिर न रहेगा। यों शरीर की दृष्टि से युवाकाल में नर-नारियों में बिजली अधिक रहती है, इसी से उसका आकर्षण युवावर्ग के साथ काम-सेवन की लालसा सँजोए रहता है। शरीर में विद्युत्शक्ति है तो, पर थोड़ी और घटिया स्तर की ही पाई जाती है। असली शक्ति-भंडार मस्तिष्क और हृदय में भरा रहता है। स्वस्थ और सुंदर व्यक्ति भी यदि मनोबल की दृष्टि से घटिया है,

तो उसे इस संदर्भ में अशक्त ही माना जाएगा। कुरूप और ढलती आयु के व्यक्ति में भी उसके आंतरिक स्तर के अनुरूप प्रबल प्राण रह सकता है। असलियत यह है कि, शरीर की स्थिति से प्राण क्षमता का संबंध बहुत ही कम है। किसी भी आयु में मनःस्थिति के अनुरूप प्राण की प्रबलता या न्यूनता हो सकती है और उसकी लाभ-हानि साथी को भोगनी पड़ सकती है।

यों ब्रह्मचर्य सभी के लिए उचित है, पर उन प्राणसंपन्न उच्च व्यक्तित्वों के लिए तो बहुत ही आवश्यक है। वे इस प्रकार का व्यतिक्रम करके अपनी प्रगति को ही रोक देंगे। साथी को उतना लाभ न मिलेगा, जितनी स्वयं क्षति उठा लेंगे। इसलिए ब्रह्मचर्य की महत्ता असंदिग्ध है। प्राण को संचित करते रहा जाए और यदाकदा उसका उपयोग काम-क्रीड़ा में कर लिया जाए, तो साथी की सहायता की दृष्टि से भी समर्थ पक्ष की यही बुद्धिमत्ता होगी। कामुक व्यक्ति बाहर से ही चमक-दमक के भले दीखें, भीतर से खोखले होते हैं और वे जिससे भी संपर्क बनाते हैं, उसी की शक्ति चूसने लगते हैं। लंपट व्यक्ति के साथ दांपत्यजीवन बनाकर उसका साथी शारीरिक और मानसिक क्षति ही उठा सकता है। क्षीण प्राण वाला व्यक्ति समर्थ पक्ष की कुछ सहायता नहीं कर सकता। ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी ही अपनी विशेष विद्युत्धाराओं से एक-दूसरे को लाभान्वित कर सकते हैं। प्रशंसनीय केवल इसी स्तर का काम-सेवन कहा जा सकता है, जिससे प्रबल शक्तिप्रवाह का लाभ दोनों ही पक्ष अपनी-अपनी आवश्यकता की पूर्ति और अतृप्ति निवारण के लिए ही कर सकें।

संतान उत्पादन के सत्परिणाम संयमशीलता पर निर्भर हैं। कामुकता की दिशा में अति करने वाले दंपत्ति कुछ ही दिनों में अपनी जननेंद्रियों की मूलसत्ता खो बैठते हैं। ऐसे पुरुष को नपुंसक और नारी को बंध्या होते देखा जाता है। गर्भ रहे तो गर्भपात होने, दुर्बल या मृत संतान होने का खतरा बना रहता है। ऐसे माता-पिता मूर्ख, दुर्गुणी, रोगी, अविकसित संतान ही उत्पन्न कर सकते हैं।

समर्थ संतान के लिए जिस परिपक्व शुक्र की आवश्यकता है, उसका निर्माण ब्रह्मचारी जीवन से ही संभव है। पुष्ट शरीर वाले युवक-युवती मिलकर पुष्ट शरीर वाले बालक को तो जन्म दे सकते हैं; पर उसकी मनःशक्ति, बुद्धिमत्ता एवं तेजस्विता अपूर्ण ही रह जाएगी। आंतरिक समस्त विशेषताएँ और विभूतियाँ प्राणशक्ति से संबंधित है। प्राण का परिपाक ब्रह्मचर्य ही कर सकता है। इसलिए जिन्हें आंतरिक दृष्टि से मेधावी, प्रतिभावान् और दूरदर्शी संतान अपेक्षित हो, उन्हें अपनी अंतःक्षमता की सुरक्षा एवं परिपुष्टि का ध्यान रखना चाहिए। यह उपलब्धि अधिक संयम से ही प्राप्त करना संभव है। इसलिए गृहस्थ रहते हुए भी ब्रह्मचारी की स्थिति बनाए रहकर अपना-अपने साथी का और भावी संतान का भविष्य उज्ज्वल बनाने की बात सोचनी चाहिए। काम-सेवन क्षुद्र मनोरंजन के लिए इंद्रियतृप्ति के लिए नहीं किया जाना चाहिए। उसका सदुपयोग प्राण-प्रत्यावर्तन द्वारा एक-दूसरे के अभावों को पूर्ण करने में हो। यह प्रयोजन केवल प्राणवान् और प्रबुद्ध पति-पत्नी मिलकर ही कर सकते हैं। अपने देश समाज और वंश का मुख उज्ज्वल कर सकने वाली संतान उत्पन्न करना हर किसी के वश की बात नहीं है। इसके लिए इंद्रियसंयम की साधना करनी पड़ती है और प्राण को परिपुष्ट करने वाली सत्प्रवृत्तियों से भरापूरा व्यक्तित्व बनाना पड़ता है। वस्तुतः सुयोग्य संतानोत्पादन भी एक साधना है, जिसके लिए संयमी ही नहीं, मनस्वी भी बनना पड़ता है।

दो वस्तुएँ मिलने से तीसरी बनने की प्रक्रिया 'रसायन' कहलाती है। केमिस्ट्री इस विज्ञान का नाम है। रज और वीर्य मिलने से भ्रूण की उत्पत्ति होती है और नौ महीने की अवधि पूरी करके भ्रूण का बालक के रूप में प्रसव होता है। यह स्थूल गर्भधारण या प्रजनन हुआ। इसके अतिरिक्त भी एक प्राण-प्रत्यावर्तन होता है, जिसे अनेक अवसरों पर, अनेक रूपों में देखा जा सकता है। शिष्य के प्राण में गुरु अपना प्राण प्रतिष्ठापित करके उसकी प्रतिभा, मेधा और विद्या को प्रखर बनाता है। यह

कार्य स्कूली मास्टर नहीं कर सकते, वे तो बेचारे मात्र जानकारी दे सकने वाले पाठ भर पढ़ा सकते हैं। वह विद्या, जो शिष्य को गुरु के समान ही प्रखर बना दे, केवल तपस्वी गुरुओं द्वारा ही उपलब्ध हो सकती है। योगी अपने साधकों को शक्तिपात करते हैं, वे अपनी तपःशक्ति शिष्य को देकर बात की बात में उच्च भूमिका तक पहुँचा देते हैं। मरणासन्न रोगी को रक्तदान देकर पुनर्जीवन प्रदान किया जा सकता है। इसी प्रकार दुर्बल-प्राण को सबल-प्राण बनाने का कार्य शक्ति—प्रत्यावर्तन जैसी प्रक्रिया संपन्न करती है। काम-सेवन का ऊँचा स्तर यही है। वह बच्चे पैदा करने के लिए नहीं, दो प्राणों के समन्वय से एक नवीन प्रतिभा विकसित करने के लिए किया जा सकता है। सतोगुणी और सौम्य दंपत्ति एक साथ साधना के रूप में यदि काम-सेवन करते भी हैं, तो इसका प्रयोजन एक अद्भुत प्रतिभा को जन्म देना होता है, जो आवश्यकतानुसार एक या दो शरीरों में पैदा की जा सकती है। यह उच्चस्तरीय शिशु जन्म है। ऐसा काम-सेवन अभिशाप न होकर, वरदान भी हो सकता है। विष को भी यदि संशोधन करके भेषज बना लिया जाए, तो वे विघातक न रहकर संजीवन बूटी बन सकता है। काम-प्रक्रिया को विष बनाकर अपने मरण का साज न सँजोएँ, बल्कि उसे अमृत बनाकर दो व्यक्तित्वों के असाधारण उत्कर्ष एवं विश्वकल्याण कर सकने में समर्थ एवं प्राणप्रयोजन सिद्ध करें। यह पूर्णतः अपने बस की बात है और अपनी बुद्धिमत्ता दूरदर्शिता पर निर्भर है।

❐ ❐

काम प्रवृत्तियों का नियंत्रण— परिष्कृत अंतःचेतना से

भारतीय तत्त्ववेत्ताओं ने कामोत्तेजना को मनोज, मनसिज आदि नाम देकर बहुत पहले ही, यह स्वीकार कर लिया था कि, यह उद्वेग शारीरिक हलचल नहीं, मानसिक उभार है। यदि मन पर नियंत्रण किया जा सके, उसे ईश्वरभक्ति, कला, साधना एवं आदर्श, निष्ठा में नियोजित किया जा सके, तो युवावस्था में शरीर और मन से ब्रह्मचारी रहा जा सकता है। इसके विपरीत यदि शारीरिक नियंत्रण तो निभाया जाए पर, मानसिक उत्तेजना उभरती रहे, तो ब्रह्मचर्य का वह लाभ न मिल सकेगा, जैसाकि साधना ग्रंथों में उसका माहात्म्य बताया गया है। दृष्टिकोण में परिवर्तन ही इंद्रियनिग्रह का प्रधान आधार है। आहार-विहार के संयम से तो उसमें थोड़ी-सी सहायता भर मिलती है।

आमतौर से यह समझा जाता है कि सुंदर या परिपुष्ट स्थिति के नर-नारी अधिक कामतृप्ति करते होंगे एवं अच्छा प्रजनन करने में सफल रहते होंगे, पर यह बात वैज्ञानिक तथ्यों के विपरीत है। मनुष्य की चेतनात्मक विद्युत्शक्ति ही कामोत्तेजना उत्पन्न करती है और उसी की प्रबलता से यौन तृप्ति एवं उत्कृष्ट प्रजनन का संबंध रहता है। यह भ्रम दूर होता चला जा रहा है कि शरीर गठन का कामोल्लास से सीधा संबंध है। वस्तुतः कामोत्तेजना विशुद्ध मानसिक प्रक्रिया है। वह जिस आयु में भी—जिस मात्रा में उल्लसित रहेगी, उसी स्थिति में कामोद्वेग उठते रहेंगे और तृप्ति तथा प्रजनन की सफलता भी उसी अनुपात से सामने आती रहेगी।

भ्रूमध्य भाग में अवस्थित पिट्यूटरी ग्रंथि एक विशेष प्रकार के हारमोन उत्पन्न करती है, जो कामोत्तेजना की वृद्धि तथा यौन अवयवों को परिपुष्ट करते हैं। विशेषज्ञ हर्मन्शान का कथन है,

'कामुकता को भावुकता का ऐसा आवेश कह सकते हैं, जो प्रजनन हारमोनों की प्रबलता उत्पन्न करती है।' इसी आधार पर लोगों में न्यूनाधिक कामोत्तेजना पाई जाती है। हो सकता है कि, कोई पूर्ण स्वस्थ, पूर्ण नपुंसक भी हो, इसके विपरीत दुर्बल शरीर में वही आवेश अनियंत्रित स्थिति में उभर रहा हो।

शिकागो मनोविश्लेषण संस्थान के डॉ० थेरेसी वेनेडेव तथा जीव रसायनशास्त्री डॉ० रुवेन स्टीन ने मासिक धर्म का जल्दी तथा देरी से न्यूनता तथा अधिकता से होना, हारमोन स्रावों के साथ अति घनिष्ठता के साथ जुड़ा हुआ बताया है। रजोदर्शन के कुछ पहले से लेकर कुछ दिन पश्चात् तक नारी प्रवृत्ति में आमतौर से भावुकता और उत्तेजना बढ़ जाती है। इन दिनों वे अधिक चंचल होती हैं, या तो यौन उत्तेजना की बात सोचती हैं या फिर खीज, झुंझलाहट अथवा आक्रोश प्रकट करती हैं। गृहकलह प्रायः इन्हीं दिनों अधिक होता है। महिलाओं द्वारा किए जाने वाले अपराधों में तीन-चौथाई इन्हीं दिनों होते हैं।

मेडिकल न्यूज ट्रिब्यून नामक लंदन से प्रकाशित होने वाले, साप्ताहिक पत्र में डॉ० एन० एन० ज्यॉफरी का एक अन्वेषण लेख छपा है। जिसमें उन्होंने प्रकाश और उष्णता के प्रभाव से जल्दी यौवन उभर आने का उल्लेख किया है। कई जीवों को गरम और प्रकाश के वातावरण में रखने पर उनमें युवावस्था जल्दी उभरी।

ब्रिटेन के एक-दूसरे साप्ताहिक पत्र 'लांसेट' में यह विवरण प्रकाशित हुआ है कि, इंग्लैंड का तापमान क्रमशः बढ़ रहा है। अब वहाँ पहले जितनी ठंढ नहीं पड़ती। फलस्वरूप लड़कियाँ जल्दी ही रजस्वला होने लगी हैं। औसत लड़की हर १० वर्ष में चार मास पहले रजस्वला होने लगी है। इसी प्रकार संतानोत्पादन समर्थता भी पहले की अपेक्षा अब कम आयु में परिपुष्ट होने लगी है।

आहार-विहार और वातावरण की गरमी बढ़ जाने से नर-नारियों में काम-प्रवृत्ति तीव्र होने की मान्यता पुरानी हो गई। अब शरीरशास्त्री इस नए निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि, उत्तेजनात्मक चिंतन

से जो मस्तिष्कीय विद्युत्प्रवाह उमड़ते हैं, वे ही यौन-लिप्सा में मनुष्य को बलात् प्रवृत्त करते हैं। यह विद्युत्धारा घटाई भी जा सकती है और बढ़ाई भी। तदनुसार संयम के लिए पृष्ठभूमि अपने ही प्रयास से बन सकती है। इसके लिए सोचने का तरीका बदलने भर से काम नहीं चलता, वरन् हारमोन प्रवाह की रोकथाम कर सकने वाली अंतःचेतना का बलिष्ठ होना भी आवश्यक है, जो योगाभ्यास जैसे उपायों से ही संभव है—

मनोविज्ञान क्रुकशैंक का कथन है—काम-तृप्ति में इंद्रिय समाधान ही नहीं, आवेश की तृप्ति भी आवश्यक होती है और वह चेतना में भावुकता भरी उमंगें उठने से ही संभव है। यह उमंगें शृंगार-रस का वातावरण बनाने से भी उठती हैं, किंतु मुख्यतः वे उस अंतःचेतना पर निर्भर हैं, जिन्हें हारमोन स्रावों का जन्मदाता कहा जा सकता है।

पुत्र या पुत्री उत्पन्न होने में भी उस विद्युत् आवेश का ही प्रधान हाथ रहता है। सामान्यतः शुक्र-कीटाणुओं और रज-अंड की स्थिति को गर्भधारण के लिए उत्तरदायी माना जाता है और यह कहा जाता है कि, पुत्र जन्म के लिए और कन्या जन्म के लिए अलग-अलग शुक्राणुओं का हाथ रहता है।

शरीरशास्त्र के विद्यार्थी जानते हैं कि नर के शुक्राणुओं में मादा और नर जाति के जीवाणु पाए जाते हैं, जबकि नारी रज में केवल एक ही प्रकार के, नारी जाति के जीवाणु रहते हैं। इन दोनों के मिलने से गर्भ की स्थापना होती है। इस मिलन में यदि नर शुक्राणु का नारी बीज सफल हुआ तो लड़की, और यदि उसका नर बीज सफल हुआ तो लड़के की उत्पत्ति होती है। मोटा सिद्धांत सभी प्राणियों में यही लागू होता है। इसलिए कन्या या पुत्र की उत्पत्ति के लिए नर शरीर को ही उत्तरदायी माना जाता है। इस संदर्भ में नारी सर्वथा निष्पक्ष-निर्दोष है।

शुक्र में उभयपक्षी जीवाणुओं में से एक वर्ग को यदि निष्क्रिय बनाया जा सके, तो संतान अभीष्ट लिंग की उत्पन्न हो सकती है।

इस सिद्धांत को ध्यान में रखकर ऐसी औषधियों की खोज बहुत दिन तक चली, जिनके आधार पर एक पक्ष के जीवाणु मूर्च्छित बनाए जा सकें। इन प्रयोगों में सफलता न मिलने से उन्हें बंद कर दिया गया। जर्मन वैज्ञानिकों ने रतिक्रिया के समय प्रयुक्त हो सकने वाले, ऐसे रसायन तैयार किए जो एक वर्ग के जीवाणुओं को मूर्च्छित कर सकें, पर यह प्रयोग भी असफल रहा।

रूसी महिला वैज्ञानिक बी० एन० श्रोडर ने अपने साथी कोलस्तोव की सहायता से यह अन्वेषण किया कि वीर्य बीज बिजली की ऋण और धन धाराओं से प्रभावित होते हैं। शरीर में यदि एक वर्ग को ही बिजली कहें, तो एक वर्ग के शुक्र बीज विशेष रूप से उत्तेजित होंगे और दूसरे वर्ग के मंद स्थिति में पड़े रहेंगे। धन विद्युत् नर बीजों को और ऋण धारा नारी बीजों को उत्तेजित करती हैं। उन्होंने 'एलेक्ट्रो फोरेसिस' की सहायता से बीजाणुओं का पृथक्करण करके, खरगोशों से संतानोत्पादन कराया, परिणाम आशाजनक रहा। उपर्युक्त प्रतिपादन यह सिद्ध करते हैं कि, शुक्राणुओं में से किस वर्ग के कीट प्रबल होंगे और किस लिंग का बालक जन्म देंगे। इसकी बागडोर उन कीटाणुओं की संरचना में रहने वाली रासायनिक विशेषता पर निर्भर नहीं है, वरन् उस विद्युत्प्रवाह पर निर्भर है, जो अमुक वर्ग के कीटाणुओं को उत्तेजित करती है। अब औषधिसेवन कराके नपुंसकों को पौरुषवान् बनाने की बात व्यर्थ मानी जाती है, इसी प्रकार उन औषधियों को भी झुठला दिया गया है, जो पुत्र या कन्या उत्पन्न कराने का दावा करती है। आधुनिकतम मान्यता यह है कि मानवशरीर के अंतःक्षेत्र में प्रवाहित रहने वाली विद्युत्शक्ति का स्तर ही, नर के शुक्र एवं नारी के रज को न केवल गर्भाधान की स्थिति में लाता है, वरन् उसी पर पुत्र या कन्या का जन्म भी निर्भर है।

कोलंबिया विश्वविद्यालय के प्रसूतिशास्त्र के अध्यापक डॉ० शेटल्स ने एक हजार मनुष्यों के शुक्राणुसंग्रह करके, उन पर विभिन्न प्रकार के परीक्षण किए। वे भी इसी निष्कर्ष में पर पहुँचे कि,

क्रोमोसोम कणों को विद्युत्धारा द्वारा इस स्तर तक प्रभावित किया जा सकता है कि उनसे इच्छित लिंग की संतान पैदा कराई जा सके।

फिलाडेल्फिया मेडीकल सेंटर ने यह निष्कर्ष निकाला है कि अधिक मात्रा में और अधिक समर्थ जीवाणुओं की उत्पत्ति कामोत्तेजना की मंद अथवा तीव्र स्थिति पर निर्भर है। अन्यमनस्क मनःस्थिति में हुए संयोग से उत्पादित जीवाणु भी निष्क्रिय और निस्तेज ही पाए गए हैं। ऐसे निस्तेज, निराश गर्भाधान से, मनस्वी और प्रतिभाशाली बालक उत्पन्न नहीं हो सकते।

अधिक संख्या में संतानोत्पादन शरीर की रासायनिक स्थिति पर निर्भर नहीं है, वरन् हारमोन उत्तेजना से संबंधित है। रासायनिक दृष्टि से जिस स्थिति का एक शरीर बंध्यत्वग्रस्त होगा, उसी स्थिति का दूसरा शरीर बहुप्रजनन की अति भी कर सकता है। ऐसे शरीरों का विश्लेषण करने पर उनके आंतरिक विद्युत्प्रवाह को ही उस भिन्नता के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है।

रूस की एक महिला ने २७ बार गर्भवती होकर २३ शिशुओं को जन्म दिया। यह महिला अपने समय में बहुत प्रख्यात हुई थी और सम्राट् जार द्वितीय ने उसे सम्मानित किया था।

फ्रांस की एक ग्रामीण नारी ने २१ संतानों की माँ बनकर इस समय में सर्वाग्रणी जननी का पद प्राप्त किया है। इंडोनेशिया की एक महिला गत २८ वर्षों से हर साल एक संतान को अनवरत रूप से जन्म देती चली आ रही है। मांटीमिलेटो (इटली) की एक महिला श्रीमती रोसा अब तक २६ बच्चों को जन्म दे चुकी हैं।

केवल कन्याओं को जन्म देनी वाली महिलाओं में प्रथम है इंडियाना पोलिश की श्रीमती सिसिल, जिन्होंने लगातार १४ कन्याओं को जन्म दिया है। इसके बाद दूसरे नंबर पर आती हैं—श्रीमती लाइड ब्रुक्स उनके १३ कन्याएँ ही हैं। इन दोनों महिलाओं ने कभी भी पुत्र प्रसव नहीं किया।

आयु के न्यून या अधिक होने पर भी प्रजनन अवयव इस स्थिति में हो सकते हैं कि वे संतानोत्पादन कर सकें—

गुआर्रागुएट (ब्राजील) में २३ बच्चों के पिता जोसेपारफरियो डी० एराओ ने १०६ वर्ष की आयु में, ४८ वर्षीय महिला के साथ चौथा विवाह किया है। पूछने वालों को बताया कि यदि मेरे और संतान होती है, तो उसे पूर्णतः स्वाभाविक समझूँगा।

नव-वधू का यह प्रथम विवाह है। वह बहुत समय से उसकी प्रेयसी रही है। लोगों ने इस वृद्ध के विवाह का मखौल उड़ाया, तो वधू ने इससे असहमति प्रकट की और उसने कहा—मेरा पति शारीरिक दृष्टि से पूर्ण समर्थ और मैं उससे संतुष्ट हूँ।

दक्षिण पेरू के आरिक्विया अस्पताल में एक ११ वर्षीय बालिका ने १.८ किलोग्राम वजन के बच्चे को जन्म दिया। जच्चा और बच्चा दोनों ही स्वस्थ रहे।

इससे पूर्व कम उम्र की लड़की द्वारा प्रजनन का पहला रिकार्ड यह है कि १९३८ में एक सात वर्षीय बालिका लिंडा मैडिना ने कैस्ट्रोविरीना के अस्पताल में पुत्र को जन्म दिया था।

यह प्रमाण बताते हैं कि शरीर की स्थिति पर प्रजनन निर्भर नहीं, वरन् उसका सीधा संबंध ऐसी चेतना से है, जो कायगत रासायनिक पदार्थों से कहीं ऊँचा है।

इन तथ्यों पर विचार करने से कामप्रवृत्ति को नियंत्रित, परिष्कृत, परिपुष्ट, प्रबल और शिथिल बनाने को ही नहीं, अभीष्ट संतानोत्पादन के लिए विशिष्ट चेतना के साथ संपर्क बनाना पड़ेगा, जो अस्थि-मांस से नहीं, वरन् अंतःचेतना से संबंधित है। चेतना का यह स्तर योगाभ्यास की कुंडलिनी उत्थान जैसी साधना पद्धतियों से संबंधित है। ब्रह्मचर्य का परिपूर्ण पालन और ओजस् शक्ति का प्रखर व्यक्तित्व के रूप में परिवर्तन भी इसी स्तर की साधनाओं द्वारा संभव हो सकता है।

☆ काम-बीज का परिष्कार

शरीर की उत्पत्ति काम-बीज से है। फ्राइड के अनुसार वह बालकपन में दुग्धपान से लेकर साथियों की छेड़छाड़ के अनेक रूप

में विकसित होता है। किशोरावस्था में वह जोश बनकर उभरता है। होश को पीछे छोड़कर, जोश की जो तूफानी लहरें उठती हैं, उनमें मनोविज्ञानी कामतत्त्व की प्रबलता देखते हैं। लड़कों में नए स्थानों पर नए केश उत्पन्न होने—जननेंद्रिय में प्रौढ़ता बढ़ने के रूप में, उसकी अभिवृद्धि प्रकट होती है। लड़कियों में रजोदर्शन तथा वक्षस्थल का उभार इसी का प्रमाण है। कल्पना क्षेत्र में विपरीत लिंग के प्रति आकर्षक कल्पनाओं के आँधी-तूफान उठने लगते हैं। आगे चल कर इसकी परिणति प्रणय में होती है। दांपत्य सूत्र जुड़ते हैं, आदान-प्रदान के भाव भरे रसास्वादन मिलते हैं और संतानोत्पत्ति का क्रम चल पड़ता है। एक मए गृहस्थ का, एक नए परिवार का श्रीगणेश होता है और पति-पत्नी को उसी की विविध-व्यवस्थाएँ जुटाने में अपनी लगभग पूरी शक्ति झोंकनी पड़ती है। यह 'काम-बीज' से उत्पन्न वटवृक्ष है, जिसका विस्तार भली या बुरी व्यस्त क्रिया-प्रक्रियाओं में होता है। जीवन सम्पदा का उत्सर्ग इसी वेदी पर होता देखा गया है। बीच-बीच में उच्छृंखल यौनाचार की कल्पनाएँ अथवा क्रियाएँ अपने अलग ही कुहराम मचाती रहती हैं। उन पर सामाजिक नियंत्रण न हो, तो उस स्वेच्छाचार की प्रतिक्रिया से सामाजिकता का, पारिवारिकता का, सभ्यता का, मानवी प्रगति का अंत हुआ ही समझना चाहिए। अपराधों के घटनाक्रम में कामविग्रह का—उसकी विकृत प्रतिक्रिया का जितना हाथ रहता है, उतना सब अनाचारों से मिलकर भी नहीं होता है। नीति-मर्यादाओं का उल्लंघन इसी प्रबल प्रेरणा से आए दिन होता रहता है।

इतने प्रेरकतत्त्व को तुच्छ मानकर नहीं चलना चाहिए। उसकी सामर्थ्य असीम है। एक शरीर से दूसरे का उत्पन्न होना, इस सृष्टि का एक अद्‌भुत आश्चर्य है। स्रष्टा की घोषणा **एकोऽहं बहुष्यामि** मनुष्य की इसी सामर्थ्य में प्रतिभाषित होती है। परंतु यदि मनुष्य अपना सारा जीवन, कृमि-कीटकों की तरह संतानोत्पादन में ही नष्ट कर दे, तो यह सामर्थ्य का दुरुपयोग ही हुआ।

गीता के कर्मयोग में 'निष्काम' होने पर जोर दिया गया है। यों उसका मोटा अर्थ कामनाओं से पीछा छुड़ाकर कर्त्तव्यपरायण होना है, पर गहराई में उतरने पर उसमें 'काम' रहित होने तथा हर उच्च स्तरीय आत्मिक प्रगति होने और आत्मकल्याण एवं ईश्वर दर्शन का लाभ मिलने का तथ्य सामने आ खड़ा है।

ब्रह्मचर्य का महत्त्व सनातन धर्म के रूप में सभी संप्रदायों ने समान रूप से बताया है। उसके कई प्रकार के लाभ-सत्परिणाम बताएँ हैं। ब्रह्मचर्य का मोटा अर्थ स्त्री-पुरुष संयोग से बचना बताया गया है। यह शारीरिक मर्यादा है, पर इसका लाभ तभी होता है, जब उसे मानसिक रूप से भी निभाया जाए। सच तो यह है कि, यह प्रसंग शारीरिक कम और मानसिक अधिक है। मन पर कामुकता छाई रहे, तो शरीर संयम निरर्थक ही नहीं, कई बार तो हानिकारक ही होता है। शरीरशास्त्री काम-निरोध को हानिकारक भी बताते हैं। यह उस स्थिति में सही भी है, जब मानसिक असंयम तो बनाए रहा जाए, किंतु शरीर को हठपूर्वक नियंत्रित किया जाए। ऐसी दशा में स्वप्न दोष होने लगेंगे अथवा गुप्त कुकृत्यों का सिलसिला चल पड़ेगा। इसमें प्रत्यक्ष मैथुन से कम नहीं, अधिक ही हानि है। इसके विपरीत यदि धर्मपत्नी के साथ मित्र, सहचर, सहोदर के भाव से रहा जाए और आवश्यकतानुसार मर्यादित काम-सेवन क्रम भी चलता रहे, तो उसकी कोई बुरी प्रतिक्रिया न होगी। सच तो यह है कि उससे कुकल्पनाओं और कुचेष्टाओं को निरस्त करने में, सहायता भी मिलेगी। देवताओं-ऋषियों और महामानवों को भी जब विवाहित जीवनक्रम अपनाते देखते हैं, तो लगता है यह कोई गर्हित कृत्य नहीं है। यदि ऐसा होता, तो वे इस मार्ग पर क्यों चलते ?

यहाँ विवाहित रहने या अविवाहित रहने की उपयोगिता के पक्ष-विपक्ष में कुछ नहीं कहा जा रहा है। व्यक्ति विशेष की मनःस्थिति, परिस्थिति एवं कार्यपद्धति को देखते हुए दोनों ही मार्ग उपयोगी हैं। जिन्हें उच्च आदर्शों में निरत रहना है, उन्हें अपनी शक्तियाँ बचाकर लक्ष्य के लिए अधिक कुछ कर सकना तभी हो

सकता है, जब गृहस्थ का भार ढोने से अवकाश मिले। प्राचीनकाल से साधु परंपरा यह रास्ता अपनाती रही है। परिव्राजक कार्यपद्धति में, न्यूनतम निर्वाह में, चिंता मुक्त रहने में उन्हें सुविधाएँ अविवाहित रहकर ही मिलती थीं। इसके विपरीत जिन्हें आश्रम चलाने पड़ते थे, वे ब्राह्मण गृहव्यवस्था के लिए पत्नी के सहयोग की सुविधा देखते थे। जो हो काम पत्नी-रति; सरसता के लिए विलाप करती है। विधवा के दुःख को भगवान् आशुतोष सहन नहीं कर पाते, वे द्रवित होते हैं और वरदान देते हैं कि, भस्मसात् कामदेव शरीर समेत तो जीवित नहीं हो सकते, पर वे सूक्ष्म रूप में फिर सजीव हो जाएँगे और उच्च आत्माओं पर भी अपना अस्त्र छोड़ने की कामना पूरी करेंगे।

इस वरदान का अभिप्राय यह है कि, पशुप्रवृत्तियों को भड़काने वाली और जीवन-संपदा को कुमार्गगामी बनाने वाली कामुकता को परिष्कृत किया जा सकता है। उसे भावनात्मक श्रेष्ठ संवेदनाओं में लगाकर स्थूल यौनाचार के आकर्षण से विरत किया जा सकता है।

कुंडलिनी के स्वरूप निर्धारण में यह तथ्य और भी स्पष्ट है। काम-केंद्र मूलाधार चक्र को बताया गया है। यह जननेंद्रिय के मूल में है। इसे अग्निकुंड, अग्नि, समुद्र, शक्ति-समुद्र भी कहा गया है। उमंगें और उत्साह भरने की क्षमता वहाँ केंद्रित है। इस स्थिति में उसकी संज्ञा सर्पिणी की है। सर्प-दंश और सर्प-विष की भयानकता सर्वविदित है। सामान्य स्थिति में यह कुंडलिनी शक्ति, अधोगामी और बहिर्मुखी रहती है। उसके क्षरण-स्राव-जननेंद्रिय मार्ग से नीचे की ओर टपकते हैं। उसका प्रत्यक्ष रूप त्वचा तल से ऊपर उभरा होता है। नर और नारी की जननेंद्रियों की स्थिति, इस दृष्टि से लगभग एक जैसी ही है। कुंडलिनी की गर्हित, मूर्च्छित, अधःपतित स्थिति को समझा जाना चाहिए।

कुंडलिनी का जागरण साधना में समुद्र-मंथन जैसे प्रयत्न करने पड़ते हैं। फलतः प्रसुप्ति जाग्रति में बदलती है। तप की उष्णता पाकर अंतःऊर्जा उभरती है और ऊपर की ओर चलने का प्रयत्न करती है।

गरमी से वायु, जल आदि सभी का विस्तार होता है। वे ऊपर की ओर उठते हैं। ग्रीष्म में चक्रवात, गरम हवा के द्वारा ही उठते हैं। पानी से भाप, गरमी ही ऊपर की ओर उठाती है। मूलाधार से जगी हुई व्यक्ति ऊर्जा, प्राण-शक्ति कुंडलिनी ऊपर को उठाती है। मेरुदंड मार्ग से सर्पिणी की तरह लहराती हुई, ब्रह्मरंध्र की ओर चलती है, बिजली की यही चाल है। यह ऊर्जा मस्तिष्क में पहुँचती है। सहस्रार कमल से संबंध बनाती है और उसी में लय हो जाती है। कमल सात्त्विकता का, कला का, दिव्य सौंदर्य का केंद्र माना गया है। भगवान् के अंगों का, अवयवों का वर्णन कमल उपमा के साथ किया जाता रहा है। लक्ष्मी कमलासन पर विराजमान् हैं। गजेंद्र ने ग्राह से मुक्ति पाने के लिए कमल पुष्प सूँड़ में लेकर भगवान् की अभ्यर्थना की थी। कमला लक्ष्मी का दूसरा नाम है। विष्णु के चार हाथों में चार उपकरण हैं। शंख, चक्र, गदा के उपरांत चौथा 'पद्‌म' ही आता है। इस प्रकार पौराणिक संगतियों में कमल के दिव्यता का प्रतीक माना गया है। मस्तिष्क के मध्य क्षेत्र में ब्रह्मरंध्र में सहस्रार कमल अवस्थित हैं। उस पर कहीं विष्णु की, कहीं शिव की, कहीं सद्‌गुरु की स्थापना और ध्यान का उल्लेख है। यह प्रतिपादन यही इंगित करता है कि, कामुकता में संलग्न अंतःऊर्जा को, उस पतन के गर्त से निकालकर ब्रह्मचेतना में उत्कृष्ट उल्लास प्रदान करने वाली ब्रह्मविद्या में नियोजित किया जाना चाहिए।

इसी परिवर्तन-परिष्कार को—उत्कर्ष उन्नयन की, कुंडलिनी जागरण कहा गया है। ब्रह्मचर्य की तात्त्विक साधना यही है। इसी में अध्यात्म तत्त्वज्ञान के समस्त सूत्र सँजोए हुए हैं। इस ट्रांसफार्मेशन का—रूपांतरण का सत्परिणाम, महान् जागरण, दिव्य-जीवन के रूप में सामने आता है। काम-बीज का यह समर्पण कितना श्रेयस्कर होता है, इसे कुंडलिनी महाविज्ञान की जागरण साधना एवं तत्त्वभावना को अपनाकर जाना जा सकता है।

❑ ❑

काम की उत्पत्ति उद्भव

कुंडलिनी महाशक्ति को 'काम-कला' कहा गया है। उसका वर्णन कतिपय स्थलों में ऐसा प्रतीत होता है, मानो यह कोई सामान्य काम-सेवन की चर्चा की जा रही हो। कुंडलिनी का स्थान जननेंद्रिय मूल में रहने से भी, उसकी परिणति कामशक्ति के उभार के लिए प्रयुक्त होती प्रतीत होती है।

इस तत्त्व को समझने के लिए, हमें अधिक गहराई में प्रवेश करना पड़ेगा और अधिक सूक्ष्मदृष्टि से देखना पड़ेगा। नर-नारी के बीच चलने वाली 'काम-क्रीड़ा' और कुंडलिनी साधना में सन्निहित 'काम कला' में भारी अंतर है। मानवीय अंतराल में उभयलिंग विद्यमान है। हर व्यक्ति अपने आप में आधा नर और आधा नारी है। अर्ध नारी नटेश्वर भगवान् शंकर को चित्रित किया गया है। कृष्ण और राधा का भी ऐसा ही एक समन्वित रूप चित्रों में दृष्टिगोचर होता है। पति-पत्नी दो शरीर एक प्राण होते हैं। यह इस चित्रण का स्थूल वर्णन है।

नारी लिंग का सूक्ष्म स्थल जननेंद्रिय मूल है। इसे 'योनि' कहते हैं। मस्तिष्क का मध्य बिंदु ब्रह्मरंध्र-'लिंग' है। इसका प्रतीक-प्रतिनिधि सुमेरु-मूलाधार चक्र के योनिगह्वर में ही काम-बीज के रूप में अवस्थित है। अर्थात् एक ही स्थान पर वे दोनों विद्यमान हैं, पर प्रसुप्त पड़े हैं। उनके जागरण को ही कुंडलिनी जागरण कहते हैं। इन दोनों के संयोग की साधना 'काम-कला' कही जाती है। इसी को कुंडलिनी जागरण की भूमिका कह सकते हैं। शारीरिक काम-सेवन इसी आध्यात्मिक संयोग की छाया है।

आंतरिक कामशक्ति को दूसरे शब्दों में महाशक्ति-महाकाली कह सकते हैं। एकाकी नर या नारी भौतिक जीवन में अस्तव्यस्त रहते हैं। आंतरिक जीवन में उभयपक्षी विद्युत्शक्ति का समन्वय न होने से सर्वत्र नीरस-नीरवता दिखाई पड़ती है। इसे दूर करके

समग्र समर्थता एवं प्रफुल्लता उत्पन्न करने के लिए कुंडलिनी साधना की जाती है। इसी संदर्भ में शास्त्रों में साधना विज्ञान का जहाँ उल्लेख किया है, वहाँ काम-क्रीड़ा जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है। वस्तुतः यह आध्यात्मिक काम-कला की ही चर्चा है। योनि-लिंग, काम-बीज, रज-वीर्य, संयोग आदि शब्दों में उसी अंतःशक्ति के जागरण की विधिव्यवस्था सन्निहित है—

स्वयंभूलिंगं तन्मध्ये सरंध्रं पश्चिमालयम्।
ध्यायेच्च परमेशानि शिवं श्यामलसुंदरम्॥

—शाक्तानंद तरंगिणी

उसके मध्य रंध्र सहित महालिंग है। वह स्वयंभू और अधोमुख, श्यामल और सुंदर है। उसका ध्यान करें।

तत्र स्थितो महालिंगः स्वयंभूः सर्वदा सुखी।
अधोमुखः क्रियावांश्च काम बीजेन चालितः॥

—काली कुलामृत

जहाँ महारंध्र में वह महालिंग अवस्थित है। वह स्वयंभू और सुख-स्वरूप है। इसका मुख नीचे की ओर है। यह निरंतर क्रियाशील है। काम बीज द्वारा चालित है।

आत्मसंन्थं शिवं त्यक्त्वा बहिःस्थं यः समर्चयेत्।
हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य भ्रमते जीविताशया॥
आत्मलिंगार्चनं कुर्यादनालस्यं दिने दिने।
तस्य स्यात्सकला सिद्धिर्नात्रि कार्या विचारणा॥

—शिव संहिता

अपने शरीर में अवस्थित शिव को त्यागकर जो बाहर-बाहर पूजते-फिरते हैं। वे हाथ के भोजन को छोड़कर इधर-उधर से प्राप्त करने के लिए भटकने वाले लोगों में से हैं।

आलस्य त्यागकर 'आत्म-लिंग'—शिव—की पूजा करें। इसी से समस्त सफलताएँ मिलती हैं।

नमो महाबिन्दुमुखी चंद्रसूर्यस्तनद्वया।
सुमेरुदीर्घ कलया शोभमाना महीपदा।।
कामराजकलारूपा जागर्ति सचराचरा।
एतत् कामकला व्याप्तं गुह्याद गुह्यतरं महत्।।

—रुद्रयामल तंत्र

महाबिंदु उसका मुख है। सूर्य-चंद्र दोनों स्तन हैं, सुमेरु उसकी अर्ध कला है, पृथ्वी उसकी शोभा है। चर-अचर सबमें काम-कला के रूप में जगती है। सबमें काम-कला होकर व्याप्त है। यह गुह्य से भी गुह्य है।

जननेंद्रिय मूल-मूलाधार चक्र में योनि स्थान बताया गया है

मूलाधारे हि यत् पद्मं चतुष्पत्रं व्यवस्थितम्।
तत्र कंदेऽस्ति या योनिस्तस्यां सूर्यो व्यवस्थितः।।

—शिव संहिता

चार पंखुरियों वाले मूलाधार चक्र के कंद भाग में, जो प्रकाशवान योनि है।

तस्मिन्नाधारपद्मे च कर्णिकायां सुशोभना।
त्रिकोणा वर्तते योनिः सर्वतंत्रेषु गोपिता।।

—शिव संहिता

उस आधार पद्म की कर्णिका में अर्थात् दंडी त्रिकोण योनि है। यह योनि सब तंत्रों में गोपित है।

यत्तद्गुह्यमिति प्रोक्तं देवयोनिस्तु सोच्यते।
अस्यां यो जायते वह्निः स कल्याण कृदुच्यते।।

—कात्यायन स्मृति

यह गुह्य नामक स्थान देव योनि है। उसी में जो बह्नि उत्पन्न होती है, वह परम कल्याणकारिणी है।

आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम्,
योनि स्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते।।

—गोरक्ष पद्धति

पहले मूलाधार एवं दूसरे स्वाधिष्ठान चक्र के बीच में योनि स्थान है, वही काम-रूप पीठ है।

आधाराख्ये गुदस्थाने पंकजं च चतुर्दलम्।
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवंदिता।।

—गोरक्ष पद्धति

गुदा स्थान में जो चतुर्दल कमल विख्यात है, उसके मध्य में त्रिकोणाकार योनि है, जिसकी वंदना समस्त सिद्धजन करते हैं, पंचाशत वर्ण से बनी हुई कामाख्या पीठ कहलाती है।

यत्समाधौ परं ज्योतिरनन्तं विश्वतो मुखम्।
तस्मिन् दृष्टे महायोगे यातायातन्न विन्दते।।

—गोरक्ष पद्धति

इसी त्रिकोण विषय समाधि में अनंत विश्व में व्याप्त होने वाली परम ज्योति प्रकट होती है, वही कालाग्नि रूप है, जब योगी ध्यान, धारणा, समाधि द्वारा उक्त ज्योति देखने लगता है, तब उसका जन्म मरण नहीं होता।

इन दोनों का परस्पर अति घनिष्ठ संबंध है। वह संबंध जब मिला रहता है, तो आत्मबल समुन्नत होता चला जाता है और आत्मशक्ति सिद्धियों के रूप में विकसित होती चलती है। जब उनका संबंध विच्छेद हो जाता है, तो मनुष्य दीन-दुर्बल, असहाय-असफल जीवन जीता है। कुंडलिनीरूपी योनि और सहस्रार रूपी लिंग का संयोग मनुष्य की आंतरिक अपूर्णता को पूर्ण करता है। साधना का उद्देश्य इसी महान् प्रयोजन की पूर्ति करता है। इसी को शिव-शक्ति का संयोग एवं आत्मा से परमात्मा का मिलन कहते हैं। इस संयोग का वर्णन साधना क्षेत्र में इस प्रकार किया गया है।

भगः शक्तिर्भगवान् काम ईश उभादातारावि‌ह सौभगानाम्।
समप्रधानौ समसत्वौ समोजौ तयोः शक्तिरजरा विश्वयोनिः।।

—त्रिपुरोपनिषद्

भग शक्ति है। काम-रूप ईश्वर भगवान् है। दोनों सौभाग्य देने वाले हैं। दोनों की प्रधानता समान है। दोनों की सत्ता समान है। दोनों समान ओजस्वी हैं। उनकी अजरा शक्ति विश्व का निमित्त कारण है।

शिव और शक्ति के सम्मिश्रण को शक्ति का उद्‌भव आधार माना गया है। इन्हें बिजली के 'धन और ऋण' भाग माना जाना चाहिए। बिजली इन दोनों वर्गों के सम्मिश्रण से उत्पन्न होती है। अध्यात्म-विद्युत् के उत्पन्न होने का आधार भी इन दोनों शक्ति केंद्रों का संयोग ही है। शिव पूजा में इसी आध्यात्मिक योनि-लिंग का संयोग प्रतीक रूप से लिया गया है।

लिंगवेदी उमादेवी लिंगं साक्षान्महेश्वरः।

—लिंग पुराण

लिंग वेदी (योनि) देवी उमा है, लिंग साक्षात् महेश्वर हैं।

सा भगाख्या जगद्धात्री लिंगमूर्तेस्त्रिवेदिका।
लिंगस्तु भगवान्द्वाभ्यां जगत्सृष्टिर्द्विजोत्तमाः।।
लिंगमूर्तिः शिवो ज्योतिस्तमसश्चोपरि स्थितः।

—लिंग पुराण

वह महादेवी भग संज्ञा वाली और इस जगत् की धात्री हैं तथा लिंग रूप वाले शिव की त्रिगुणा प्रकृति रूप वाली है। हे द्विजोत्तमों ! लिंग रूप वाले भगवान् शिव नित्य ही भग से युक्त रहा करते है और इन्हीं दोनों से इस जगत् की सृष्टि होती है। लिंग स्वरूप शिव स्वतः प्रकाश रूप वाले हैं, और यह माया के तिमिर से ऊपर विद्यमान रहा करते हैं।

ध्यायेत् कुंडलिनीं देवीं स्वयंभूलिंगवेष्टिनीम्।
श्यामां सूक्ष्मां सृष्टिरूपां सृष्टिस्थितिलयात्मिकाम्।
विश्वातीतां ज्ञानरूपां चिंतयेद् ऊर्ध्ववाहिनीम्।

—षट्चक्र निरूपणम्

स्वयंभू लिंग से लिपटी हुई कुंडलिनी महाशक्ति का ध्यान श्यामा, सूक्ष्मा, सृष्टिरूपा, विश्व को उत्पन्न और लय करने वाली, विश्वातीत, ज्ञानरूप ऊर्ध्ववाहिनी के रूप में करें।

यह उभयलिंग एक ही स्थान पर प्रतिष्ठापित है। जननेंद्रिय मूल—मूलाधार चक्र में सूक्ष्मयोनि गह्वर है। उसे ऋण-विद्युत् कह सकते हैं। उसी के बीचों-बीच सहस्रार चक्र का प्रतिनिधि एक छोटा-सा उभार है, जिसे 'सुमेरु' कहा जाता है। देवताओं का निवास सुमेरु पर्वत माना गया है। समुद्र-मंथन में इसी पर्वत का वर्णन आता है। साढ़े तीन चक्र लिपटा हुआ शेषनाग इसी स्थान पर है। इस उभार केंद्र को 'काम-बीज' भी कहा गया है। एक ही स्थान पर दोनों का संयोग होने से साधक का 'आत्मरति' प्रयोजन सहज ही पूरा हो जाता है। कुंडलिनी साधना इस प्रकार आत्मा के उभयपक्षी लिंगों का समन्वय-सम्मिश्रण ही है। इसकी जब जाग्रति होती है, तो रोम-रोम में अंतःक्षेत्र के प्रत्येक प्रसुप्त केंद्र में हलचल मचती है और आनंद, उल्लास का प्रवाह बहने लगता है। इस समन्वय केंद्र—काम-बीज का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

योनि मध्ये महालिंगं पश्चिमाभिमुखस्थितम्।
मस्तकेमणिवद्बिम्बं यो जानाति स योगवित्॥

—गोरक्ष पद्धति

त्रिकोणाकार योनि में सुषुम्ना द्वार के सम्मुख स्वयंभू नामक महालिंग है, उसके सिर में मणि के समान दैदीप्यमान् विंब है, यही कुंडलिनी जीवाधार-मोक्षद्वार है। इसे जो सम्यक् प्रकार से जानता है, उसे योगविद् कहते हैं।

तप्तचामीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरत्।
त्रिकोणं तत्परं वह्निरधो मेढ्रात्प्रतिष्ठितम्॥

—गोरक्ष पद्धति

मेढ्र (लिंग स्थान) से नीचे मूलाधार कर्णिका में तपे हुए स्वर्ण के वर्ण के समान वाला, बिजली के समान चमक-दमक वाला, जो त्रिकोण है, वही कालाग्नि का स्थान है।

पूर्वाक्ता डाकिनी तत्र कर्णिकायां त्रिकोणकम्।
यन्मध्ये विवरं सूक्ष्मं रक्ताभं कामबीजकम्।
तत्र स्वयंभू लिंगस्थाधोमुखारक्तकप्रभः।।

—शक्ति तंत्र

वही ब्रह्म डाकिनी शक्ति है। कर्णिका में त्रिकोण है। इसके मध्य में, एक सूक्ष्म विवर है। रक्त आभा वाला काम-बीज, स्वयंभू, अधोमुख महालिंग यही है।

आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम्।
योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते।।
आधाराख्ये गुदस्थाने पंकजं च चतुर्दलम्।
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवंदिता।।
योनिमध्ये महालिंगं पश्चिमाभिमुखस्थितम्।
मस्तके मणिवद्बिम्बं यो जानाति स योगवित्।।
तप्तचामीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरत्।
त्रिकोणं तत्परं वह्निरधोमेढ्रात्प्रतिष्ठितम्।।
यत्समाधौ परं ज्योतिरनंत विश्वतोमुखम्।
तस्मिन् दृष्टे महायोगे यातायातन्न बिन्दते।।

—गोरक्ष पद्धति

मूलाधार और स्वाधिष्ठान इन दो चक्रों के बीच जो योनि स्थान है, वही 'कामरूप' पीठ है।

चौदह पंखुरियों वाले मूलाधार चक्र के मध्य में त्रिकोणाकार योनि है, इसे 'कामाख्या' पीठ कहते हैं। यह सिद्धों द्वारा अभिवंदित है।

उस योनि के मध्य पश्चिम की ओर अभिमुख 'महालिंग' है।

उसके मस्तक में मणि की तरह प्रकाशवान बिंब है, जो इस तथ्य को जानता है, वही योगविद् है।

लिंग स्थान से नीचे, मूलाधार कर्णिका में अवस्थित तपे सोने के समान आभा वाला, विद्युत् जैसी चमक से युक्त जो त्रिकोण है, उसी को 'कालाग्नि' कहते हैं।

इसी विश्वव्यापी परम ज्योति में तन्मय होने में महायोग की समाधि प्राप्त होती है और जन्म-मरण से छुटकारा मिलता है।

तत्र बंधूक पुष्पाभं कामबीजं प्रकीर्तितम्।
कललेनसमं योगे प्रयुक्ताक्षररूपिणम्।।
सुषुम्णापि च संश्लिष्टो बीजं तत्र वरं स्थितम्।
शरच्चंद्रनिभं तेजस्वयमेतत्स्फुरत्स्थितम्।।
सूर्यकोटिप्रतीकाशं चंद्रकोटि सुशीतलम्।
एतत्त्रयं मिलित्वैव देवी त्रिपुर भैरवी।
बीजसंज्ञं परं तेजस्तदेव परिकीर्तितम्।
क्रियाविज्ञानशक्तिभ्यां युतं यत्परितो भ्रमत्।
उत्तिष्ठद्विशतस्त्वंभ, सूक्ष्मं शोणशिखायुतम्।
योनिस्थं तत्परं तेजः स्वयंभूलिंगसंज्ञितम्।

—शिव संहिता

जिस स्थान पर कुंडलिनी है, उसी स्थान पर पुष्प के समान स्वर्ण आभा जैसा चमकता हुआ रक्त वर्ण काम-बीज है।

कुंडलिनी, सुषुम्ना और काम-बीज यह सूर्य-चंद्रमा की तरह प्रकाशवान् हैं। इन तीनों के मिलन को त्रिपुर भैरवी कहते हैं। इस तेजस्वी तत्त्व की बीज संज्ञा है।

यह बीज ज्ञान और क्रियाशक्ति से संयुक्त होकर शरीर में भ्रमण करता है और ऊर्ध्वगामी होता है। इस परम तेजस्वी अग्नि का योनि स्थान है और उसे 'स्वयंभू लिंग' कहते हैं।

क्रिया विज्ञान शक्तिभ्यां युतं यत्परितो भ्रमत्।
उत्तिष्ठद्विशतस्त्वम्भ, सूक्ष्मं शोणशिखायुतम्।
योनिस्थं तत्परं तेज, स्वयंभू लिंग संज्ञितम्।

—शिव संहिता

वह बीज क्रियाशक्ति एवं ज्ञानशक्ति से युक्त होकर शरीर में भ्रमण करता है और कभी ऊर्ध्वगामी होता है और कभी जल में प्रवेश करता है और सूक्ष्म प्रज्वलित अग्नि के समान शिखा युत परम तेज वीर्य की स्थिति योनि स्थान में है। स्वयंभू लिंग संज्ञा है।

तत्र बंधूकपुष्पाभं कामबीजं प्रकीर्तितम्।
कललेन समं योगे प्रयुक्ताक्षररुपिणम्।

—शिव संहिता

जिस स्थान में कुंडलिनी है, उसी स्थान में बंधूक पुष्प के समान रक्त वर्ण काम-बीज की स्थिति कही गई है। वह काम बीज तप्त स्वर्ण के समान स्वरूप योग युक्त द्वारा चिंतनीय है।

सुषुम्णापि च संश्लिष्टो बीजं तत्र वरं स्थितम्।
शरच्चंद्र तेजस्स्वयमेतत्स्फुरत्स्थितम्।।
सूर्यकोटि प्रतीकाशं चंद्रकोटि सुशीतलम्।

—शिव संहिता

जिस स्थान में कुंडलिनी स्थिति है, सुषुम्ना उसी स्थान में काम-बीज के साथ स्थित है और वह बीज शरच्चंद्र के समान प्रकाशवान् और तेज है। वह आप ही कोटि सूर्य के समान प्रकाशवान् और कोटि चंद्र के समान शीतल है।

स्थूलशरीर में नारी का प्रजनन द्रव रज कहलाता है। नर का उत्पादक रस वीर्य है। सूक्ष्मशरीर में इन दोनों की प्रचुर मात्रा एक ही शरीर में विद्यमान है। उनके स्थान निर्धारित हैं। इन दोनों के पृथक् रहने के कारण जीवन में कोई बड़ी उपलब्धि नहीं होती, पर जब इनका संयोग होता है, तो जीवन पुष्प का पराग-मकरंद परस्पर

मिलकर फलित होने लगता है और सफल जीवन की अगणित संभावनाएँ प्रस्फुटित होती हैं। एक ही शरीर में विद्यमान इन 'उभय' रसों का वर्णन साधना विज्ञानियों ने इस प्रकार किया है—

योनिस्थाने महाक्षेत्रे जपाबंधूकसन्निभम्।
रजोवसति जंतूनां देवीतत्वं समाहितम्।
रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृतः।

—योग शिखोपनिषद्

योनि स्थान रूपी मूलाधार महाक्षेत्र में, जवा कुसुम के वर्ण का रज हर एक जीवधारी के शरीर में रहता है। उसको देवीतत्त्व कहते हैं। उस रज और वीर्य के योग से राजयोग की प्राप्ति होती है अर्थात् इन दोनों के योग का फल राजयोग है।

गुदा और उपस्थ के मध्य में सीवनी के ऊपर त्रिकोणाकृति गुह्य-गह्वर है, जिसको 'योनि-स्थान' कहते हैं।

गलितोपि यदा विन्दुः संपृक्तो योनिमंडले।
ज्वलितोपि यथा विन्दु संप्राप्तश्च हुताशनम्।।
व्रजत्यूहर्व हठाच्छक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया।
स एव द्विविधो विन्दु, पांडुरो लोहितस्तथा।।
पांडुरं शुक्रमित्याहुर्लोहिताख्यो महारजः।
विद्रुमद्रुम संकाशं योनिस्थाने स्थितं रजः।।
शीर्षस्थाने वसेद्विंदुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम्।

—ध्यान बिन्दु उपनिषद्

सहस्रार से क्षरित-गलित होने पर जब वीर्य योनि स्थान पर ले जाया जाता है, तो वहाँ कुंडलिनी अग्निकुंड में गिरकर जलता हुआ वह वीर्य योनि मुद्रा के अभ्यास से हठात् ऊपर चढ़ा लिया जाता है और प्रचंड तेज के रूप में परिणत होता है। यही आध्यात्मिक काम-सेवन एवं गर्भधारण है।

स पुनर्द्विविधो विंदुः पांडरो लोहितस्तथा।
पांडर शुक्रमित्याहुर्लोहिताख्यो महारजः।।

—गोरक्ष पद्धति

बिंदु दो प्रकार का होता है—एक तो पांडु वर्ण जिसे शुक्र कहते हैं और दूसरा (लोहित) रक्त वर्ण जिसे महारज कहते हैं।

सिन्दूरद्रवसंकाशं नाभिस्थाने स्थितः रजः।
शीर्षस्थाने स्थितो विन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम्।।

—गोरक्ष पद्धति

तैल मिले सिंदूर के द्रव (रस) के समान रज सूर्य स्थान नाभि-मंडल में रहता है तथा बिंदु (वीर्य) चंद्रमा के स्थान कंठ देश षोडशाधार चक्र में स्थिर रहता है। इन दोनों का ऐक्य अत्यंत दुर्लभ है।

विन्दु-शिवो रजः शक्तिश्चन्द्रो विन्दुः रजो रविः अनयोः संगमादेव प्राप्यते परपं पदम्।। —गोरक्ष पद्धति

बिंदु शिव और रज शक्ति है। इनके एक होने से योग सिद्ध एवं परम पद प्राप्त होता है। चंद्रमा-सूर्य का ऐक्य करना ही योग है।

वायुना शक्तिचारेण प्रेरितं तु यदा रजः।
याति विन्दोः सहैकत्वं भवेद्दिव्यं वपुस्ततः।।

—गोरक्ष पद्धति

शक्तिचालिनी विधि से वायु द्वारा जब-रज बिंदु के साथ ऐक्य को प्राप्त होता है, तब शरीर दिव्य हो जाता है।

शरीरस्था रजोवीर्यएकता सिद्धिदायिका,
स बिन्दुस्तद्रजश्चैव एकीभूत स्वदेहगौ।
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः।।

—हठयोग प्रदीपिका

अपने देह स्थिति में रज व वीर्य वज्रोली के अभ्यास के योग से सब सिद्धियों को देने वाले हो जाते हैं।

शारीरिक काम-सेवन की तुलना में आत्मिक काम-सेवन असंख्य आनंददायक हैं। शारीरिक काम-क्रीड़ा को विषयानंद और आत्मरति को ब्रह्मानंद कहा गया है। विषयानंद से ब्रह्मानंद का आनंद और प्रतिफल कोटि गुना है। शारीरिक संयोग से शरीरधारी-संतान उत्पन्न होती है। आत्मिक संयोग प्रचंड आत्मबल और विशुद्ध विवेक को उत्पन्न करता है। उमा, महेश को विवाह के उपरांत, दो पुत्र प्राप्त हुए थे। एक स्कंद (आत्मबल), दूसरा गणेश (प्रज्ञा-प्रकाश)। कुंडलिनी साधक इन्हीं दोनों को अपने आत्मलोक में जन्मा, बढ़ा और परिपुष्ट हुआ देखता है।

स्थूल काम-सेवन की ओर से विमुख होकर यह आत्मरति अधिक सफलतापूर्वक संपन्न हो सकती है। इसलिए इस साधना में शारीरिक ब्रह्मचर्य की आवश्यकता प्रतिपादित की गई है और वासनात्मक मनोविकारों से बचने का निर्देश दिया गया है। शिवजी द्वारा तृतीत नेत्र तत्त्व विवेक द्वारा स्थूल काम-सेवन को भस्म करना—उसके सूक्ष्मशरीर को अजर-अमर बनाना, इसी तथ्य का अलंकारिक वर्णन है। शारीरिक काम-सेवन से विरत होने की और आत्मरति में संलग्न होने की प्रेरणा है। काम-दहन के पश्चात् उसकी पत्नी रति की प्रार्थना पर शिवजी ने काम को अशरीरी रूप से जीवित रहने का वरदान दिया था और रति को विधवा नहीं होने दिया था, उसे आत्मरति बना दिया था। वासनात्मक अग्नि का आह्य अग्नि-कालाग्नि के रूप में परिणित होने का प्रयोजन भी यही है—

भस्मीभूते स्मरे शंभुस्तृतीयनयनाग्निना।
तस्मिन्प्रविष्टे जलधौ वद त्वं किमभूत्ततः।।

—शिव पुराण

शिवजी के तृतीय नेत्र की प्रदीप्त अग्नि की ज्वाला से जब कामदेव भस्म हो गया और वह अग्नि समुद्र में प्रवेश कर गई, इसके पश्चात् क्या हुआ ?

तं च ज्ञात्वा तथाभूतं तृतीयेनेक्षणेन वै।
ससर्ज कालीं कामारिः कालकंठीं कपर्दिनीम्।।

—लिंग पुराण

उस देवी को उस स्थिति में जानकर काम के मर्दन करने वाले शिव ने कालकंठी कपर्दिनी का सृजन किया था।

☆ कुंडलिनी और काम-विज्ञान

कुंडलिनी विज्ञान में मूलाधार को योनि और सहस्त्रार को लिंग कहा गया है। यह सूक्ष्मतत्त्वों की गहन चर्चा है। इस वर्णन में काम-क्रीड़ा एवं शृंगारिकता का काव्यमय वर्णन तो किया गया है, पर क्रिया प्रसंग में वैसा कुछ नहीं है। तंत्र ग्रंथों में उलटवांसियों की तरह मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और पाँचवाँ, 'मैथुन' भी साधना प्रयोजनों में सम्मिलित किया गया है। यह दो मूल सत्ताओं के संभोग का संकेत है। शारीरिक रति-कर्म से इसका संबंध नहीं जोड़ा गया है। यों यह सूक्ष्म अध्यात्म सिद्धांत रति-कर्म पर भी प्रयुक्त होते, दांपत्य स्थिति पर भी लागू होते हैं। दोनों के मध्य समता की, आदान-प्रदान की स्थिति जितनी ही संतुलित होगी, उतना ही युग्म को अधिक सुखी, संतुष्ट, समुन्नत पाया जाएगा।

मूलाधार में कुंडलिनी शक्ति शिवलिंग के साथ लिपटी हुई, प्रसुप्त सर्पिणी की तरह पड़ी रहती है। समुन्नत स्थिति में इसी मूल स्थिति का विकास हो जाता है। मूलाधार मल-मूत्र स्थानों के निकृष्ट स्थान से ऊँचा उठकर मस्तिष्क के सर्वोच्च स्थान पर विराजता है। छोटा-सा शिवलिंग मस्तिष्क में कैलाश पर्वत बन जाता है। छोटे-से कुंड को मानसरोवर रूप धारण करने का अवसर मिलता है। प्रसुप्तसर्पिणी जाग्रत् होकर शिव कंठ से जा लिपटती है और शेषनाग के पराक्रमी रूप में दृष्टिगोचर होती है। मुँह बंद कली खिलती है और खिले हुए शतदल कमल के सहस्त्रार के रूप में उसका विकास होता है। मूलाधार में तनिक-सा स्थान था; पर ब्रह्मरंध्र का विस्तार तो उससे सौ गुना अधिक है।

सहस्रार को स्वर्गलोक का कल्पवृक्ष—प्रलयकाल में बचा रहने वाला अक्षयवट—गीता का ऊर्ध्व मूल अधःशाखा वाला अश्वत्थ—भगवान् बुद्ध को महान् बनाने वाला बोधिवृक्ष कहा जा सकता है। यह समस्त उपमाएँ ब्रह्मरंध्र में निवास करने वाले ब्रह्म बीज की ही हैं। वह अविकसित स्थिति में मन, बुद्धि के छोटे-मोटे प्रयोजन पूरे करता है, पर जब जाग्रति स्थिति में जा पहुँचता है, तो सूर्य के समान दिव्यसत्ता संपन्न बनता है। उसके प्रभाव से व्यक्ति और उसका संपर्क क्षेत्र दिव्य आलोक से भरापूरा बन जाता है।

ऊपर उठना पदार्थ और प्राणियों का धर्म है। ऊर्जा का, ऊष्मा का स्वभाव ऊपर उठना और आगे बढ़ना है। प्रगति का द्वार बंद रहे, तो कुंडलिनी शक्ति कामुकता के छिद्रों से रास्ता बनाती और पतनोन्मुख रहती है। किंतु यदि ऊर्ध्वगमन का मार्ग मिल सके, तो उसका प्रभाव परिणाम प्रयत्नकर्ता को परम तेजस्वी बनने और अंधकार में प्रकाश उत्पन्न कर सकने की क्षमता के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

कुंडलिनी की प्रचंड क्षमता स्थूल शरीर में ओजस्-सूक्ष्म शरीर में तेजस् और कारण शरीर में वर्चस् के रूप में प्रकट एवं परिलक्षित होती है। समग्र तेजस्विता को इन तीन भागों में दृष्टिगोचर होते देखा जा सकता है। इस अंतःक्षमता का एक भोंड़ा-सा उभार काम-वासना के रूप में देखा जा सकता है। कामुकता अपने सहयोगी के प्रति कितना आकर्षण-आत्मभाव उत्पन्न करती है। संभोग कर्म में इसकी सरसता अनुभव होती है। संतानोत्पादन जैसी आश्चर्यजनक उपलब्धि सामने आती है। एक छोटी-सी इंद्रिय पर इस अंतःक्षमता का आवेश छा जाने पर उसका प्रभाव कितना अद्भुत होता है, यह आँख पसारकर हर दिशा में देखा जा सकता है। मनुष्य का चित्त, श्रम, समय एवं उपार्जन का अधिकांश भाग इसी उभार को तृप्त करने का ताना-बाना बुनने में बीतता है। उपभोग की प्रतिक्रिया संतानोत्पादन के उत्तरदायित्व निभाने के रूप में कितनी महँगी और भारी पड़ती है, यह प्रकट

तथ्य किसी से छिपा नहीं है। यदि इस सामर्थ्य को ऊर्ध्वगामी बनाया जा सके, तो उसका प्रभाव देवोपम परिस्थितियाँ सामने लाकर खड़ी कर सकता है।

भौतिक दृष्टि से जननेंद्रियों को काम-वासना एवं रति प्रवृत्ति के लिए उत्तरदायी माना जाता है, पर वैज्ञानिक गहन अन्वेषण से यह तथ्य सामने आता है कि नर-नारी के प्रजनन केंद्रों का सूत्र-संचालन मेरुदंड के सुषुम्ना केंद्र से होता है। यह केंद्र नाभि की सीध में है। हैनरी आस्ले कृत नोट्स आन फिजियोलॉजी, ग्रंथ में इस संदर्भ में विस्तृत प्रकाश डाला गया है। उसमें उल्लेख है कि नर-नारियों के प्रजनन अंगों के संकोच एवं उत्तेजना का नियंत्रण मेरुदंड के लंबर रीजन (निचले क्षेत्र) में स्थित केंद्रों से होता है। इस दृष्टि से कामोत्तेजना के प्रकटीकरण का उपकरण मात्र जननेंद्रिय रह जाती हैं। उसका उद्‌गम तथा उद्‌भव केंद्र सुषुम्ना संस्थान में होने से, वह कुंडलिनी की ही एक लहर सिद्ध होती है। यह प्रवाह जननेंद्रिय की ओर उच्च केंद्रों को मोड़ देने की प्रक्रिया ही इस महाशक्ति की साधना के रूप में प्रयुक्त होती है।

नैपोलियन हिल ने अपनी पुस्तक 'थिंक एंड ग्रो रिच' में कामशक्ति के संबंध में महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है। वे सैक्स एनर्जी को मस्तिष्क और शरीर दोनों को समान रूप से प्रभावित करने वाली एक विशेष शक्ति मानते हैं। यह मनुष्य को प्रगति की दिशा में बढ़ चलने के लिए प्रेरणा देती है।

सामान्यतः उसका उभार इंद्रिय मनोरंजन मात्र बनकर समाप्त होता रहता है। जमीन पर फैले हुए पानी की भाप भी ऐसे ही उड़ती और बिखरती-भटकती रहती है, पर यदि उसका विवेकपूर्ण उपयोग किया जा सके, तो भाप द्वारा भोजन पकाने से लेकर रेलइंजन चलाने जैसे असंख्यों उपयोगी काम लिए जा सकते हैं। कामशक्ति के उच्चस्तरीय सृजनात्मक प्रयोजन अनेकों हैं। कलात्मक गतिविधियों में काव्य जैसी कल्पना, संवेदनाओं में दया, करुणा एवं उदार आत्मीयता को साकार बनाने वाली सेवा साधना में—एकाग्र तन्मयता से संभव

होने वाले शोध प्रयत्नों में प्रचंड पराक्रम के रूप में प्रकट होने वाले, शौर्य साहस में, गहन आध्यात्मिक क्षेत्र से उद्‌भूत श्रद्धा-भक्ति में उसे नियोजित किया जा सकता है।

कामेच्छा एक आध्यात्मिक भूख है। वह मिटाई नहीं जा सकती। निरोध करने पर वह और भी उग्र होती है। बहते हुए पानी को रोकने से वह धक्का मारने की नई सामर्थ्य उत्पन्न करता है। आकाश में उड़ती हुई बंदूक की गोली स्वयमेव शांत होने की स्थिति तक पहुँचने से पहले जहाँ भी रोकी जाएगी, वहाँ आघात लगाएगी और छेद कर देगी। कामशक्ति को बलपूर्वक रोकने से कई प्रकार के शारीरिक और मानसिक उपद्रव खड़े होते हैं। इस तथ्य पर फ्राइड से लेकर आधुनिक मनोवैज्ञानिकों तक ने अपने-अपने ढंग से प्रकाश डाला है और उसे सृजनात्मक प्रयोजनों में नियोजित करने का परामर्श दिया है। एक ओर से मन हटकर दूसरी ओर चला जाए। एक का महत्त्व गिराकर दूसरे की गरिमा पर विश्वास कर लिया जाए, तो आकांक्षा एवं अभिरुचि का प्रवाह मोड़ने में विशेष कठिनाई उत्पन्न नहीं होती। ब्रह्मचर्य का वैज्ञानिक स्वरूप यही है। अतृप्तिजन्य अशांति से बचने तथा क्षमता का सदुपयोग करके सत्परिणामों का लाभ लेने का एक ही उपाय है, कि कामेच्छा-प्रवृत्ति को सृजनात्मक दिशा में मोड़ा जाए।

कलात्मक प्रयोजनों में संलग्न होने से उसके भौतिक लाभ मिल सकते हैं। अध्यात्म क्षेत्र में उसे भाव-संवेदना के लिए 'भक्ति भावना' के रूप में तथा प्रबल पुरुषार्थ की तरह तपोमयी योग साधना में लगाया जा सकता है। दोनों का समन्वय कुंडलिनी जागरण प्रक्रिया में समन्वित पद्धति के रूप में किया जा सकता है। सहस्रार चक्र भक्तिभावना का और मूलाधार चक्र प्राण-संधान का केंद्र है। दोनों की प्रसुप्त स्थिति को समाप्त कर साहसिक संवेदना उभारना, कुंडलिनी जागरण प्रक्रिया अपनाने से सहज संभव हो सकता है।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष यह जीवन के चार परम प्रयोजन हैं। काम का अर्थ सामान्यतः रति-कर्म समझा जाता है। यह रसानुभूति

दो पूरक तत्त्वों के मिलन द्वारा उपलब्ध होती है। ऋण और धन विद्युत् प्रवाह मिलने से गति उत्पन्न होती है। रयि और प्राणतत्त्व के मिलन से सृष्टि के प्राणि उत्पादनों की सृष्टि होती है। प्रकृति-पुरुष की तरह नर और नारी को भी परस्पर पूरक माना गया है। मानवीय सत्ता में भी दो पूरक सत्ताएँ काम करती हैं। इन्हें नर और नारी का प्रतिनिधि मानते हैं। नारी सत्ता मूलाधार में अवस्थित कुंडलिनी है और नरतत्त्व सहस्रार स्थित परब्रह्म है। इन्हीं को शक्ति और शिव भी कहते हैं। इनका मिलन ही कुंडलिनी जागरण का लक्ष्य है। इस संयोग से उत्पन्न दिव्यधारा को भौतिक क्षेत्र में ऋद्धि-सिद्धि और आत्मिक क्षेत्र में स्वर्ग-मुक्ति कहते हैं। आत्म साक्षात्कार एवं ब्रह्मनिर्वाण का लक्ष्य भी यही है।

अथर्ववेद में भगवान् के काम-रूप से जीवन में अवतरित होने की प्रार्थना की गई है।

यास्ते शिवास्तन्वः काम भद्रायाभिः सत्यं भवति यद्वृणीषे। ताभिष्ट् वमस्माँ अभि संविशस्वान्यत्र पापीरपवेशया धियः।
—अथर्ववेद

हे परमेश्वर, तेरा काम-रूप भी श्रेष्ठ और कल्याण कारक है, उसका चयन असत्य नहीं है। आप काम-रूप से हमारे भीतर प्रवेश करें और पापबुद्धि से छुड़ाकर हमें निष्पाप उल्लास की ओर ले चलें।

कुंडलिनी महाशक्ति की प्रकृति का निरूपण करते हुए शास्त्रकारों ने उसके लिए 'काम-बीज' एवं 'काम-कला' दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। इन शब्दों का अर्थ कामुकता, काम-क्रीड़ा या काम- शास्त्र जैसा तुच्छ यहाँ लिया गया है। इस शक्ति से प्राकृतिक उत्साह एवं उल्लास उत्पन्न करना है। यह शरीर और मन की उभयपक्षीय अग्रगामी स्फुरणाएँ हैं। यह एक मूल प्रकृति हुई, दूसरी पूरक प्रकृति। मूलाधार को काम-बीज कहा गया है और सहस्रार को 'ज्ञान-बीज'। दोनों के समन्वय से विवेकयुक्त क्रिया बनती है। इसी पर जीवन का सर्वतोमुखी विकास निर्भर है। कुंडलिनी साधना से इसी सुयोग-संयोग की व्यवस्था बनाई जाती है।

प्रत्येक शरीर में नर और मादा दोनों ही तत्त्व विद्यमान हैं। शरीरशास्त्रियों के अनुसार प्रत्येक प्राणी में उभयपक्षीय सत्ताएँ मौजूद हैं। इनमें से जो उभरी रहती हैं, उसी के अनुसार लिंग-प्रकृति बनती है। संकल्पपूर्वक इस प्रकृति को बदला भी जा सकता है। छोटे प्राणियों में उभयलिंगी क्षमता रहती है। वह एक ही शरीर से समयानुसार दोनों प्रकार की आवश्यकताएँ पूरी कर लेते हैं।

मनुष्यों में ऐसे कितने ही पाए जाते हैं, जिनकी आकृति जिस वर्ग की है, प्रकृति उससे भिन्न वर्ग की होती है। नर को नारी की और नारी को नर की भूमिका निभाते हुए बहुत बार देखा जाता है। इसके अतिरिक्त लिंग परिवर्तन की घटनाएँ भी होती रहती हैं। शल्य क्रिया के विकास के साथ-साथ अब इस प्रकार के उलट-पुलट होने के समाचार संसार के कोने-कोने से मिलते रहते हैं। अमुक नर नारी बन गया और अमुक नारी ने नर के रूप में अपना गृहस्थ नए ढंग से चलाना आरंभ कर दिया।

दोनों में एक तत्त्व प्रधान रहने से ढर्रा चलता रहता है, पर एकांगीपन बना रहता है। नारी कोमलता, सहृदयता, कलाकारिता जैसे भावात्मक तत्त्व का नर में जितना अभाव होगा, उतना ही वह कठोर, निष्ठुर रहेगा और अपनी बलिष्ठता, मनस्विता के पक्ष के सहारे क्रूर-कर्कश बनकर अपने और दूसरों के लिए अशांति ही उत्पन्न करता रहेगा। नारी में पौरुष का अभाव रहा, तो वह आत्महीनता से ग्रसित, अनावश्यक संकोच में डूबी, कठ-पुतली या गुड़िया बनकर रह जाएगी। आवश्यकता इस बात की है कि दोनों ही पक्षों में संतुलित मात्रा में रयि और प्राण के तत्त्व बने रहें। कोई पूर्णतः एकांगी बनकर न रह जाए। जिस प्रकार बाह्य जीवन में नर-नारी सहयोग की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार अंतःक्षेत्र में भी दोनों तत्त्वों का समुचित विकास होना चाहिए, तभी एक पूर्ण व्यक्तित्व का विकास संभव हो सकेगा। कुंडलिनी जागरण से उभयपक्षीय विकास की पृष्ठभूमि बनती है।

मूलाधार चक्र में काम-शक्ति को स्फूर्ति, उमंग एवं सरसता का स्थान माना गया है। इसलिए उसे काम-संस्थान कहते हैं। जहाँ-तहाँ उसे योनि संज्ञा भी दी गई है। नामकरण जननेंद्रिय के आकार के आधार पर नहीं, उस केंद्र में सन्निहित 'रयि' शक्ति को ध्यान में रखकर किया गया है।

आधाराख्ये गुदास्थाने पंकजं च चतुर्दलम्।
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवंदिता।।

—गोरक्ष पद्धति

गुदा के समीप मूलाधार कमल के मध्य 'योनि' है। उसे कामाख्या पीठ कहते हैं। सिद्ध योगी इसकी उपासना करते हैं।

अपाने मूलकंदाख्यं कामरूपं च तज्ज गुः।
तदेव वह्निकुंडस्यात् तत्त्वकुंडलिनी तथा।।

—योग राजोपनिषद्

मूलाधार चक्र में कंद है। उसे काम-रूप, काम-बीज, अग्निकुंड कहते हैं। यही कुंडलिनी का स्थान है।

देवी ह्येकाग्रासीत्। सैव जगदंडमसृजत।
कामकलेति विज्ञायते शृंगारकलेति विज्ञायते।

—बृहवृचोपनिषद् १

उसी दिव्यशक्ति से यह जगत् मंडल सृजा। वह उस सृजन से पूर्व भी थी, वही काम-कला है। सौंदर्य-कला भी उसी को कहते हैं।

यत्तदगुह्यमिति प्रोक्तं देवयोनिस्तु सोच्यते।
अस्यां यो जायते बह्नि कल्याणप्रदउच्यते।।

—कात्यायन स्मृति

गुह्य स्थान में देव योनि है। उससे जो अग्नि उत्पन्न होती है, उसे परम कल्याणकारिणी समझना चाहिए।

आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम्।
योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते।।

—गोरक्ष पद्धति

पहला चक्र मूलाधार है, दूसरा स्वाधिष्ठान। दोनों के मध्य योनि स्थान है। उसे काम-रूप भी कहते हैं।

कामीकलां कामरूपां चिकित्वा नरो जायते काम रूपश्च कामः।
—त्रिपुरोपनिषद्

यह महाशक्ति काम-रूप है। उसे काम-कला भी कहते हैं। जो उसकी उपासना करता है, सो कामरूप हो जाता है। उसकी कामनाएँ फलवती होती हैं।

सहस्रार को कुंडलिनी विज्ञान में महालिंग की संज्ञा दी गई है। यहाँ भी जननेंद्रिय आकार की नहीं, वरन् उस केंद्र में सन्निहित प्राण पौरुष का ही संकेत है।

तत्रस्थितो महालिंगः स्वयंभू सर्वदासुखी।
अधोमुखः क्रियावांश्च कामबीजो न चालितः।।
—काली कुलामृत

ब्रह्मरंध्र में वह महालिंग अवस्थित है। वह स्वयंभू और सुख स्वरूप है, इसका मुख नीचे की ओर है। वह निरंतर क्रियाशील है।
काम बीज द्वारा उत्तेजित होता है।

स्वयंभूलिंगतन्मध्ये सरंध्रं पश्चिमावलम्।
ध्यायेच्च परमांशक्ति शिवं श्यामलसुन्दरम्।।
—शाक्तानंद तरंगिणी

ब्रह्मरंध्र के मध्य स्वयंभू महालिंग है। इसका मुख नीचे की ओर है। वह श्यामल सुंदर है। उसका ध्यान करें।

काम-बीज और ज्ञान-बीज के मिलने से जो आनंदमयी परम कल्याणकारी भूमिका बनती है। उसमें मूलाधार और सहस्रार का मिलन संयोग ही आधार माना गया है। इसी मिलाप को साधना से सिद्धि कहा गया है। इस स्थिति को दिव्य मैथुन की संज्ञा भी दी गई है।

सहस्रारो परिविन्दौ कुंडल्या मेलनं शिवे।
मैथुनं शयनं दिव्यं यतीनां परिकीर्तितम्।।
—योगिनी तंत्र

पार्वती सहस्त्रार में जो कुल और कुंडलिनी का मिलन होता है, उसी को यतियों ने दिव्य मैथुन कहा है।

परशक्त्यात्ममिथुनसंयोगानंद निर्जरा:।
मुक्तात्ममिथुनंतत् स्यादितरं स्त्रीनिवेषका।।

—तंत्र सार

आत्मा को परमात्मा को प्रगाढ़ आलिंगन में आबद्ध करके परम रस का आस्वादन करना यही यतियों का मैथुन है।

सुषुम्नाशक्ति सुदृष्टा जीवोऽयं तु पर: शिव:।
तयोस्तु संगमे देवै: सुरतं नाम कीर्तितम्।।

—तंत्र सार

सुषुम्ना शक्ति और ब्रह्मरंध्र शिव है। दोनों के समागम को मैथुन कहते हैं।

यह संयोग आत्मा और परमात्मा के मिलन, एकाकार की स्थिति भी उत्पन्न करता है। जीव को योनि और ब्रह्म को वीर्य संज्ञा देकर, उनका संयोग भी परमानंददायक कहा गया है—

एष बीजी भवान् बीजमहं योनि: सनातन:।

—वायु पुराण

जीव ने ब्रह्म से कहा—आज बीज हैं। मैं योनि हूँ। यही क्रम सनातन से चला आ रहा है।

शिव और शक्ति के संयोग का रूपक भी इस संदर्भ में दिया जाता है। शक्ति को रज और शिव को बिंदु की उपमा दी गई है। दोनों के मिलन के महत्त्वपूर्ण सत्परिणाम बताए गए हैं।

विन्दु: शिवो रज:शक्तिश्चन्द्रोबिन्दू रजोरवि:।
अनयो: संगमादेव प्राप्यते परमं पदम्।

—गोरक्ष पद्धति

बिंदु शिव और रज शक्ति। यही सूर्य-चंद्र हैं। इनका संयोग होने पर परम पद प्राप्त होता है।

विन्दु: शिवो रज: शक्तिरुभयोर्मिलनात् स्वयम्।

—शिव संहिता १।१००

बिंदु शिव रूप और रज शक्ति रूप है। दोनों का मिलन स्वयं महाशक्ति का सृजन है।

योनिर्वेदी उमादेवी लिंगपीठं महेश्वर।

—लिंग पुराण

योनि वेदी उमा है और लिंग पीठ महेश्वर।

जातवेदाः स्वयं रुद्रः स्वाहा शर्वार्धकामिनी।
पुरुषाख्यो मनुः शंभुः शतरूपा शिवप्रिया।।

—लिंग पुराण

जातवेदा अग्नि स्वयं रुद्र हैं और स्वाहा अग्नि महाशक्ति है। उत्पादक परम पुरुष शिव हैं और श्रेष्ठ उत्पादनकर्त्री शतरूपा एवं शिवा है।

अहं बिंदु रजः शक्तिरुभयोर्मेलनं यदा।
योगिनां साधनावस्था भवेद्दिव्यं वपुस्तदा।।

—शिव संहिता ४। ८७

शिव रूपी बिन्दु, शक्ति रूपी रज इन दोनों का मिलन होने से योग साधक को दिव्यता प्राप्त होती है।

ब्रह्म का प्रत्यक्ष रूप प्रकृति और अप्रत्यक्ष भाग पुरुष है। दोनों के मिलने से ही द्वैत का अद्वैत में विलय होता है। शरीरगत दो चेतन धाराएँ रयि और प्राण कहलाती हैं। इनके मिलन-संयोग से सामान्य प्राणियों को उस विषयानंद की प्राप्ति होती है, जिसे प्रत्यक्ष जगत् की सर्वोपरि सुखद अनुभूति कहा जाता है। ऋण और धन विद्युत् घटकों के मिलन से चिनगारियाँ निकलतीं और शक्ति-धारा बहती है। पूरक घटकों की दूरी समाप्त होने पर सरसता और सशक्तता की अनुभूति प्रायः होती रहती है। चेतना के उच्चस्तरीय घटक मूलाधार और सहस्त्रार के रूप में विलग पड़े रहें, तभी तक अंधकार की, नीरसता की, गतिहीनता की स्थिति रहेगी। मिलन का प्रतिफल संपदाओं और विभूतियों के ऋद्धि और सिद्धि के रूप में सहज ही देखा जा सकता है। इन उपलब्धियों की अनुभूति में आत्मा-परमात्माा का मिलन होता

है और उसकी संवेदना ब्रह्मानंद के रूप में होती है, इस आनंद को विषयानंद से असंख्य गुने उच्चतर का माना गया है।

शिव-पार्वती विवाह का प्रतिफल दो पुत्रों के रूप में उपस्थित हुआ था। एक का नाम गणेश, दूसरे का नाम कार्तिकेय। गणेश को 'प्रज्ञा' का देवता माना गया है और स्कंद को शक्ति का। दुर्दांत, दस्यु, असुरों को निरस्त करने के लिए, कार्तिकेय का अवतरण हुआ था। उनके इस पराक्रम ने संत्रस्त देव समाज का परित्राण किया। गणेश ने मांसपिंड मनुष्य को सद्ज्ञान, अनुदान देकर उसे सृष्टि का मुकुटमणि बनाया। दोनों ब्रह्मकुमार शिवशक्ति के समन्वय के प्रतिफल हैं। शक्ति कुंडलिनी—शिव सहस्रार दोनों का संयोग कुंडलिनी जागरण कहलाता है। यह पुण्य-प्रक्रिया संपन्न होने पर अंतरंग ऋतंभरा प्रज्ञा से और बहिरंग प्रखरता से भर जाता है। प्रगति के पथ पर इन्हीं दो चरणों के सहारे जीवनयात्रा पूरी होती है और चरमलक्ष्य की पूर्ति संभव बनती है।

गणेश जन्म के समय शिवजी ने उनका परिचय पार्वती को कराया और उसे उन्हीं हाथों में सौंप दिया। इसका विवरण वामन पुराण में इस प्रकार आया है—

यस्माज्जातस्ततो नाम्नः भविष्यति विनायकः।
एष विघ्नसहस्त्राणि देवादीनां हनिष्यति।।
पूजयिष्यन्ति देवाश्च देवि लोकाश्चराचराः।
इत्येवमुक्त्वा देव्यास्तु दत्तवांस्तनयं स हि।।

—वामन पुराण

इस ज्ञानपुत्र का नाम विनायक गणेश ही होगा। यह देवों के सहस्रों विघ्नों का हनन करेगा। हे देवि ! सब चर-अचर लोक और देवगण इसकी पूजा करेंगे। इतना कहकर शिव ने वह पुत्र देवी को दे दिया था।

स्कन्दोऽथवदनाद्ब्रह्मेः शुभ्रात्षड्वदनोऽरिहा।
निश्चक्रामोद्भुतो बालो रोग शोक विनाशनः।।

—पद्म पुराण

तब छह मुख वाले कुमार स्कंद उत्पन्न हुए। वे अद्‌भुत और शोक-संताप विनाशक थे।

आद्य शंकराचार्य कृत 'सौंदर्य लहरी' में षट्चक्रों एवं सातवें सहस्रार का वर्णन है और उस परिकर को कुंडलिनी क्षेत्र बताया है।

मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत और विशुद्ध चक्रों को, पाँच तत्त्वों का प्रतीक माना है और आज्ञाचक्र तथा सहस्रार को ब्रह्म चेतना का प्रतिनिधि बताया है। पाँच तत्त्वों का वेधन करने पर किस प्रकार कुंडलिनी शक्ति की पहुँच ब्रह्मलोक तक होती है और परब्रह्म के साथ 'विहार' करती है, इसका वर्णन ६वें श्लोक में इस प्रकार है—

महीं मूलाधारे कमप मणिपूर हुतवहः
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि।
मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपिभित्वा कुलपथं,
सहस्रारे पद्मे सहरहसि पत्या विहरसि॥

अर्थात्—हे कुंडलिनी, तुम मूलाधार में पृथ्वी को, स्वाधिष्ठान में अग्नि को, मणिपूर में जल को, अनाहत में वायु को, विशुद्ध में आकाश को वेधन करती हुई आज्ञाचक्र में मन को प्रकाश देती हो, तदुपरांत सहस्रार कमल में परब्रह्म के साथ विहार करती हो।

अवाप्य स्वां भूमिं, भुजगनिभमध्युष्टवलयं।
स्वमात्मानं कृत्वा, स्वपिषि कुल कुण्डे कुहरिणि॥

—सौंदर्य लहरी १०

सर्पिणी की तरह कुंडली मारकर तुम्हीं मूलाधार चक्र के 'कुल कुंड' में शयन करती हो।

अविद्यानामन्तस्तिमिरमिहिरोद्दीपनकरी।
जड़ानां चैतन्य, स्तवक मकरन्द स्रुति शिरा॥
दरिद्राणां चिंतामणिगुणनिका जन्य जलधौ।
निमग्नानां दंष्ट्रा, मुरसि कुवराहस्य भवती॥

—सौंदर्य लहरी

अज्ञानियों के अंधकार का नाश करने के लिए तुम सूर्य रूप हो, तुम्हीं बुद्धिहीनों में चैतन्यता का अमृत बहाने वाली निर्झरिणी हो, तुम दरिद्री के लिए चिंतामणि माला और भवसागर में डूबने वालों का सहारा देने वाली नाव हो, दुष्टों के संहार करने में तुम वाराह भगवान् के पैने दाँतों जैसी हो।

सौंदर्य लहरी के ३६ से ४१ वें श्लोकों में षट्चक्रों के जागरण और कुंडलिनी उत्थान की प्रतिक्रिया का वर्णन है। इन श्लोकों में कहा गया है कि, मूलाधार में विश्व-वैभव, स्वाधिष्ठान में शांति शीतलता, मणिपूर में अमृत वर्षा, अनाहत में 'ऋतंभरा प्रज्ञा और अठारहों विद्या' 'विशुद्ध में आनंददायिनी दिव्यज्योति' की सिद्धियाँ भरी हैं। आज्ञाचक्र में शिवत्व और सहस्रार में महामिलन का संकेत है। इन उपलब्धियों का समन्वय इतना महान् है, जिसे ऋषित्व एवं देवत्व भी कहा जा सकता है। अपूर्णता से आगे चलकर पूर्णता प्राप्त कर सकना इसी मार्ग का आश्रय लेने से संभव होने की बात इन श्लोकों में की गई है।

कुंडलिनी महाशक्ति के अनुग्रह से स्वयं आद्य शंकराचार्य किस प्रकार सामान्य द्रविड़ बालक से महामानव बन सके, इसका उल्लेख करते हुए उन्होंने स्वानुभूति इस प्रकार व्यक्त की है—

तवस्तन्यं मन्ये धरणि धरकन्ये ह्रदयतः।
पयः पारावारः परिवहति सारस्वतमिव।।
दयावत्या दत्तं द्रविडशिशुरास्वाद्य तवयत्।
कवीनां प्रौढ़ानामजनि कमनीयः कवयिता।।

—सौंदर्य लहरी

तेरे स्तनों से बहने वाले ज्ञानामृत पय-पान करके, यह द्रविण शिशु (शंकराचार्य) प्रौढ़ कवियों जैसी कमनीय काव्य रचना में समर्थ हो गया।

❑ ❑

अखंड आनंद की प्राप्ति

सांसारिक भोगों में एक विचित्र आकर्षण होता है। यही कारण है, वे मनुष्य को सहज ही अपनी ओर खींच लेते हैं। किंतु इससे भी अद्‌भुत बात यह है कि, यह जितनी ही अधिक मात्रा में प्राप्त होते जाते हैं, मनुष्य का आकर्षण उतना ही, उनकी ओर बढ़ता जाता है और शीघ्र ही वह दिन आ जाता है, जब मनुष्य इनमें आकंठ डूबकर नष्ट हो जाता है। सांसारिक भोगों की ओर अशक्त की भाँति विवश होकर खिंचते रहना ठीक नहीं। मनुष्य को अपना स्वामी होना चाहिए। इस प्रकार यंत्रवत् प्रवृत्तियों के संकेत पर परिचालित नहीं होते रहना चाहिए। संयम मनुष्य की शोभा ही नहीं, शक्ति भी है। अपनी इस शक्ति को काम में लाकर, विनाशकारी भोगों के चंगुल से उसे अपनी रक्षा करनी ही चाहिए। मनुष्य जीवन अनुपम उपलब्धि है। इस प्रकार सस्ते रूप में उसका ह्रास कर डालना न उचित है और न कल्याणकारी।

यह निर्विवाद सत्य है कि, भोगों की अधिकता मनुष्य की शारीरिक, मानसिक और आत्मिक तीनों प्रकार की शक्तियों का ह्रास कर देती है। भोग जिनमें भ्रमवश मनुष्य आनंद की कल्पना करता है, वास्तव में विषरूपी ही होते हैं। यह रोग युवावस्था में ही अधिक लगता है। यद्यपि उठती आयु में शारीरिक शक्तियों का बाहुल्य होता है, साथ ही कुछ न कुछ जीवनतत्त्व का नवनिर्माण होता रहता है। इसलिए उस समय उसका कुप्रभाव शीघ्र दृष्टिगोचर नहीं होता। किंतु अवस्था का उत्थान रुकते ही इसके कुपरिणाम सामने आने लगते हैं। लोग अकाल में वृद्ध हो जाते हैं। नाना प्रकार की कमजोरियों और व्याधियों के शिकार बन जाते हैं। चालीस तक पहुँचते-पहुँचते सहारा खोजने लगते हैं, इंद्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, और जीवन एक भार बन जाता। शरीर का तत्त्व वीर्य जो कि

मनुष्य की शक्ति और वास्तविक जीवन कहा गया है, अपव्यय हो जाता है, जिससे सारा शरीर एकदम खोखला हो जाता है।

ईसामसीह जीवन भर ब्रह्मचारी रहे। ऊँचे उठे हुए बुद्धिजीवी लोग अधिकतर संयमी जीवन ही बिताने की चेष्टा किया करते हैं। वैज्ञानिक, दार्शनिक, विचारक, सुधारक तथा ऐसी ही उच्च चेतना वाले लोग संयम का ही जीवन जीते दृष्टिगोचर होते हैं।

गृहस्थ आश्रम में संतानोत्पादन का बहाना लेकर भोगपूर्ण जीवन बिताने वाले गृहस्थाश्रम का सही मंतव्य नहीं समझते। सृष्टि क्रम को स्थिर रखने के लिए दांपत्यजीवन की अनिवार्यता स्वीकार अवश्य की गई है। तथापि उसमें भी संयम का महत्त्व कम नहीं किया गया है। धर्म-कर्तव्य के रूप में संतान-सृजन और बात है और कामुकता के वशीभूत होकर दांपत्यजीवन को भोग का माध्यम बना डालना भिन्न बात है। उस प्रकार के आचरण को संसार के सभी विद्वान् तथा विवेकशील व्यक्तियों ने अनुचित तथा मानवजीवन को नष्ट करने वाला बतलाया है। वेद भगवान् ने तो यहाँ तक कहा है कि, 'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा म मुमुपाध्नत' ब्रह्मचर्य के प्रभाव से मनुष्य बलवान् तथा शक्तिवान् ही नहीं बनता, वरन् मृत्यु तक को जीत सकता है।

ब्रह्मचर्य की महिमा बतलाते हुए छांदोग्योपनिषद् में तो यहाँ तक कहा गया है—"एक तरफ चारों वेदों का उपदेश और दूसरी तरफ ब्रह्मचर्य—यदि दोनों को तोला जाए तो ब्रह्मचर्य का पलड़ा, वेदों के उपदेश के पलड़े के बराबर रहता है।"

विषयों का निषेध करते हुए, भगवान् ने गीता में स्पष्ट कहा है—

"ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्त कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।।"

जो इंद्रिय तथा विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले सब सुख हैं, यद्यपि वे विषयी पुरुष को सुख रूप प्रतीत होते हैं, किंतु

वास्तव में होते वे दुःख के ही हेतु हैं और नाशवान् भी। इसलिए हे कुंती पुत्र अर्जुन ! बुद्धिमान् व्यक्ति, उनमें आसक्त और लिप्त नहीं होते।

न केवल धर्मशास्त्रों में ही, अपितु लौकिक शास्त्रों में भी ब्रह्मचर्य की महिमा का बखान किया गया है। आयुर्वेद संबंधी ग्रंथ चरकसंहिता में कहा गया है—

"सतामुपासनं सम्यगसतां परिवर्जनम्।
ब्रह्मचर्योपवासश्च नियमाश्च पृथग्विधाः।।"

सज्जनों की सेवा, दुर्जनों का त्याग, ब्रह्मचर्य, उपवास, धर्म-शास्त्र के नियमों का ज्ञान और अभ्यास आत्मकल्याण का मार्ग है।

यही नहीं कि भारतीय मनीषियों ने ही जीवन में ब्रह्मचर्य-संयम का गुण गाया हो, विदेशी विचारकों ने भी इसकी कम प्रशंसा नहीं की है। प्रसिद्ध जीवशास्त्री डॉ० क्राउन एम० डी० ने लिखा है—

"ब्रह्मचारी यह नहीं जानता कि, व्याधिग्रस्त दिन कैसा होता है ? उसकी पाचनशक्ति सदा नियंत्रित रहती है और उसको वृद्धावस्था में भी बाल्यावस्था जैसा आनंद आता है।"

अमेरिका के प्रसिद्ध प्राकृतिक चिकित्सक डॉ० बेनीडिक्ट लुस्टा का कथन है, "जितने अंशों तक जो मनुष्य ब्रह्मचर्य की विशेष रूप से रक्षा करता है, उतने अंशों तक वह विशेष महत्त्व का कार्य कर सकता है।"

"सिद्ध संत स्वामी रामतीर्थ और योगी अरविंद ने वीर्य का वैज्ञानिक महत्त्व प्रकट करते हुए, अपने अनुभव इस प्रकार व्यक्त किए हैं, "जैसे दीपक का तेल, बत्ती के द्वारा ऊपर चढ़कर प्रकाश के रूप में परिणित होता है, वैसे ही ब्रह्मचारी के अंदर का वीर्य सुषुम्ना नाड़ी द्वारा प्राण बनकर ऊपर चढ़ता हुआ ज्ञान-दीप्ति में परिणत हो जाता है। रेतस् (वीर्य) का जो तत्त्व रति करने के समय काम में लगता है; जितेंद्रिय होने से वह तत्त्व, प्राण, मन और शरीर

की शक्तियों को पोषण देने वाले एक दूसरे ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व में बदल जाता है।

अपने पिता आशुतोष शिवजी को प्रसन्नचित्त जानकर कुमार संभव ने उनके पास जाकर पूछा—तात ! आपने जिस प्रकार दुर्लभ साधनाएँ की, वैसा साहस किसी में न हो और वह सिद्धियों का स्वामित्व तथा ब्रह्म को प्राप्त करना चाहता हो, तो उसे क्या करना चाहिए ? वह सरल उपाय आप हमें बताने की कृपा करें। लोककल्याण की इच्छा रखने वाले भगवान् शंकर ने बताया—

सिद्धे बिंदौ महायत्ने किं न सिद्धयति भूतले।
यस्य प्रसादान्महिमा, ममाप्येतादृशो भवेत्।।

वत्स ! उसका एक उपाय है अखंड-ब्रह्मचर्य अर्थात् जिसने यत्नपूर्वक अपने वीर्य को सिद्ध कर लिया है उसके लिए इस पृथ्वी में कुछ भी दुर्लभ नहीं रह जाता। सिद्ध वीर्य पुरुष तो मेरे समान समर्थ हो सकता है।

वीर्य तत्त्व के बारे में इन पंक्तियों में जो कुछ कहा गया है, उसकी यथार्थता का अनुमान तो ब्रह्मचर्यव्रती जीवन बिताकर ही किया जा सकता है, पर अब उसकी यथार्थता वैज्ञानिक भी मानने लगे हैं और कहते हैं कि, वीर्य-कीट जिस सुरक्षित घोल में रखे जाते हैं, उसी से अनुमान किया जा सकता है कि वीर्य सृष्टि का कितना महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। वीर्य एक प्रकार का रसायन है। वीर्यकीट उसमें रहने वाले जीवाणु होते हैं। वीर्य में तरल पदार्थ ७५ प्रतिशत जल, ५ प्रतिशत फास्फेट आफ लाइम, ४ प्रतिशत चिकनाई, ३ प्रतिशत प्रोटीन ऑक्साइड तथा शेषभाग फास्फेट, फास्फोरस, सोडियम क्लोराइड आदि पदार्थ होते हैं। पुरुष के शुक्र कीट (स्पर्म) तथा स्त्री के डिंब (ओवम) का उत्पादन पुरुष के अंड कोष तथा स्त्री के अंडाशय में होता है। यहाँ से एक प्रकार का रस, जो कि वीर्य रसायन का एक प्रकार का "प्लाज्मा" होता है, स्रवित होता है, जो सारे शरीर में ओज और तेजस् की भाँति छाया रहता है। यह तेजस् ही परस्पर आकर्षण का कारण होता है। जिस शरीर

में वीर्य की प्रचुर मात्रा होती है, वह काले-कुबड़े होने पर भी आकर्षक लगते हैं। कहते हैं अष्टावक्र ने जो शरीर में आठ स्थानों से टेड़ा था—अपनी संयमशक्ति द्वारा मुख-मंडल पर वह तेजस्विता अर्जित करली थी कि, महाराज जनक भी उसकी ओर देखकर हतप्रभ हो उठे थे।

पुरुषों के शरीर में पौरुष और स्त्रियों के शरीर में स्त्रीत्व के लक्षणों का कारण यह वीर्य ही होता है, जिसे आयुर्वेद की भाषा में अंतःवीर्य की संज्ञा दी है।

आधुनिक विज्ञान इतना विकसित हो जाने पर भी वीर्य की उत्पत्ति का कोई सिद्धांत निश्चित नहीं कर पाया। सामान्य रासायनिक रचना के अतिरिक्त उन्हें इतना ही पता है कि, वीर्य का एक कोश (स्पर्म) स्त्री के डिंब (ओवम) से मिल जाता है। यही वीर्य कोश पुनःउत्पादन प्रारंभ कर देता है और अपनी तरह के तमाम कोश माँ से प्राप्त आहार द्वारा कोश विभाजन प्रक्रिया (एक से दो, दो से चार, चार से आठ) के अनुसार विभक्त होता चला जाता है। कहना न होगा कि वीर्य का परमाणु चेतना का सर्वाधिक सूक्ष्म अंश है, इनकी लंबाई १/१६०० से १/१७०० इंच तक होती है, जिसमें न केवल मनुष्य शरीर वरन् विराट् विश्व के शक्ति बीज छिपे होते हैं। सृष्टि की परंपरा की क्षमता भी, इन्हीं बीजों में होती है। उसकी शक्ति का अनुमान किया जाना कठिन है।

प्राचीनकाल के योगियों ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से बिना किसी वैज्ञानिक यंत्र के महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ प्राप्त की थीं। आज वह विज्ञान द्वारा सही सिद्ध होती हैं। उदाहरण के लिए, वही वीर्य-कोश जो स्त्री के अंड में पहुँचा था—गर्भधारण के बाद जब विकसित होना प्रारंभ करता है, तब वे बीज कोश मस्तिष्क में ही संचय होते हैं, क्योंकि गर्भ में संतान का सिर नीचे की ओर होता है। जन्म के समय १० रत्ती वीर्य बालक के ललाट में होता है, ऐसा भारतीय तत्त्वदर्शियों का मत है। यही कारण है कि, बच्चा विशुद्ध परमहंस

जैसी प्रकृति का, विशुद्ध आनंदवादी, निश्चिंत और केवलोऽहं होता है।

६ से १२ वर्ष तक वीर्यशक्ति भौहों से उतरकर कंठ में आ जाती है। प्रायः इसी समय बच्चे के स्वर में भारीपन और कन्याओं के स्वर में सुरीलापन आता है। अभी तक लगभग दोनों की ही ध्वनि एक जैसी होती थी, अब बच्चे के स्वर में पुरुषोचित लक्षण झलकने लगते हैं। इस आयु में वीर्य में विपरीत लिंग का आकर्षण पैदा होने लगता है, अतएव बालक-बालिकाओं का संपर्क अलग-अलग कर दिया जाना चाहिए। आज की सहशिक्षा तो इस दृष्टि से बच्चों के जीवन में कुठाराघात जैसा है। परस्पर समीपता से कच्चा वीर्य-मंथन प्रारंभ कर सकता है, जिसके कारण युवकों को जीवन भर स्वप्नदोष, वीर्यपात और शीघ्र-स्खलन की बीमारियाँ लद जाती हैं, जो न केवल उसे स्वास्थ्य की दृष्टि से वरन् मानसिक दृष्टि से भी हीन बना देती हैं।

११ से १६ वर्ष तक की आयु में वीर्य मेरुदंड से होता हुआ उपस्थ की ओर बढ़ता है और धीरे-धीरे मूलाधार चक्र में अपना स्थान बना लेता है। काम-विकार पहले मन में आता है, उसके बाद तुरंत ही मूलाधार चक्र उत्तेजित हो उठता है, उसके उत्तेजित होने से वह सारा ही क्षेत्र—जिसमें कि कामेंद्रिय भी सम्मिलित होती हैं उत्तेजित हो उठती हैं। ऐसी स्थिति में ब्रह्मचर्य को सँभालना कठिन हो जाता है। २४ वर्ष तक की आयु में यह वीर्य मूलाधार चक्र में से सारे शरीर में इस प्रकार व्याप्त हो जाता है जैसे—

यथा पयसि सर्पिस्तु, गूढश्चेक्षौ रसो यथा।
एवं हि सकले काये शुक्रं तिष्ठति देहिनाम्।।

अर्थात्—जिस प्रकार दुग्ध में घी, तिल में तेल, ईख में मीठापन तथा काष्ठ में अग्नितत्त्व सर्वत्र विद्यमान रहता है, उसी प्रकार वीर्य सारे शरीर में व्याप्त रहता है।

यदि २५ वर्ष की आयु तक आहार-विहार को दूषित नहीं होने दिया गया और ब्रह्मचर्य खंडित न हुआ, तो इस आयु में शक्ति की मस्ती और विचारों की प्रफुल्लता देखते ही बनती है। ऐसे बच्चे प्रायः जीवन भर स्वस्थ रहते हैं। काम-विकार से घिरे बच्चों को दमित वासना का संकट हो सकता है। जिस बालक के मस्तिष्क में मातृभाव रहा, काम-वासना प्रदीप्त नहीं होने पाई, उसे दमितवासना की तो कल्पना भी नहीं आएगी, वरन् ऐसा सोचने वाले उसके सम्मुख कीटतत्त्व जैसे हीन बुद्धि लगेंगे। प्रफुल्लता, मानसिक उन्मुक्तता, साहस, निर्भयता, वाक्-विनोद का अपने आप में उतना आनंद है जितना संभोग में। संभोग का आनंद तो थोड़ी देर तक का है, पर यदि वीर्य अच्छी तरह शरीर में बच गया है, तो वह आनंद जीवन के हर क्षेत्र में उत्साह और सफलता के रूप में सर्वत्र लिया जा सकता है।

उपस्थ में आए स्थूल वीर्य को ऊर्ध्वरेता बनाकर पुनः उसी ललाट में लाना, जहाँ से वह मूलाधार तक आया था, योगविद्या का काम है। कुंडलिनी साधना में विभिन्न प्राणायाम साधनाओं द्वारा सूर्य चक्र की ऊष्मा को प्रज्वलित कर (ईंधन बनाकर) इस वीर्य को पकाया जाता है और उसे सूक्ष्मशक्ति का रूप दिया जाता है, तब यह फिर उसकी प्रवृत्ति ऊर्ध्वगामी होकर मेरुदंड से ऊपर चढ़ने लगती है। साधक उसे क्रमशः अन्य चक्रों में ले जाता हुआ, फिर से ललाट में पहुँचाता है। शक्ति बीज का मस्तिष्क में पहुँच जाना और सहस्त्रार चक्र की अनुभूति कर लेना ही ब्रह्म निर्वाण है। ऐसे व्यक्ति को ही भगवान् शिव ने अपने समान सिद्ध और पूर्ण योगी बताया है।

कठिन योगसाधनाएँ न करने पर भी जो लोग वीर्य को अखंड रख लेते हैं, वे अपने अंदर शक्ति का अक्षय भंडार अनुभव करते हैं और कुछ भी कर सकने की क्षमता रखते हैं। प्रज्ञावान् आत्माएँ उसके लिए गर्भधारण के समय से सचेष्ट रहती हैं और वीर्य को अधोमुखी नहीं होने देकर, उसे ऊर्ध्वगामी बनाने का

प्रयत्न करती रहती हैं। सामाजिक कर्तव्यों के पालन द्वारा भी ऐसा संभव है, पर उसके लिए आज की पारिवारिक परिस्थितियों से लेकर शिक्षा पद्धति तक में परिवर्तन करना पड़ेगा। वीर्य सृष्टि का मूल उपादान है, उसकी सामर्थ्य को समझा जाना चाहिए, उसकी रक्षा की जानी चाहिए तथा ऊर्ध्वरेता के लाभों से लाभान्वित होकर मनुष्य की यथार्थता को समझना और पाना चाहिए। जो अपने वीर्य की रक्षा कर लेते हैं। एक भी बूँद बरबाद नहीं होने देते थे, वे कोई भी इच्छा करें, कभी अधूरी नहीं रह सकती। भले ही उसे लोग योग सिद्ध समझें, पर है यह सब सिद्ध-बिंदु का चमत्कार। यह शक्ति और सिद्धि ही हमें समर्थ और अपराजेय बना सकती है और कोई दूसरी शक्ति नहीं। अखंड आनंद की प्राप्ति इसी से संभव है।

❑ ❑

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ. प्र.)